वर्ष ४६] [अङ्क ८

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

संस्करण १,६६,५००

विषय-सूची

कल्याण, सौर भाद्रपद, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९८, अगस्त १९७२

चित्र-सूची

Free of Charge] जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥ [बिना मूल्य

आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार। सम्पादक—चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री

मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर
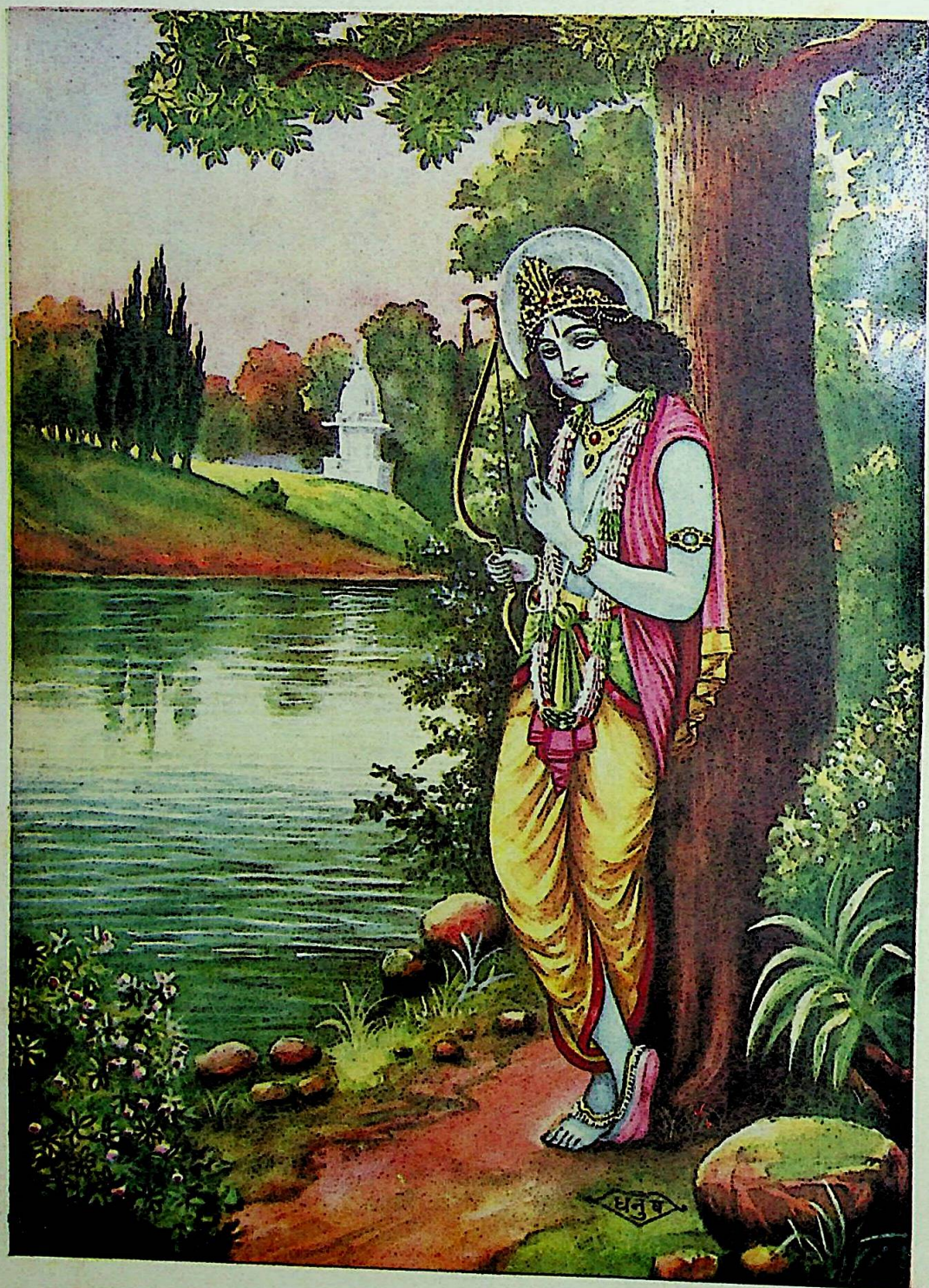
भुवनमोहन श्रीराम

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

दक्षिणे लक्ष्मणो यस्य वामे च जनकात्मजा । पुरतो मारुतिर्यस्य तं वन्दे रघुनन्दनम् ॥

(रामरक्षास्तोत्र, ३१)

वर्ष ४६ } गोरखपुर, सौर भाद्रपद, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९८, अगस्त १९७२ { संख्या ८
पूर्ण संख्या ५४९

भुवनमोहन श्रीराम

असितकमलभासा भासयन्तं त्रिलोकं
दशरथकुलदीपं देवताम्भोजभानुम् ।
दिनकरकुलबालं दिव्यकोदण्डपाणिं
कनकखचितरत्नालंकृतं राममीडे ॥

(श्रीरामकर्णामृत १ । ११)

मैं उन भगवान् श्रीरामकी स्तुति करता हूँ, जो नीलकमलकी-सी आभावाले अपने श्रीविग्रहकी कान्तिसे तीनों लोकोंको उद्भासित करते हैं, जो दशरथ-कुलदीप हैं, देवतारूप कमलोंको विकसित करनेवाले सूर्यके समान हैं, सूर्यवंशके उजागर हैं, एक हाथमें दिव्य धनुष धारण किये रहते हैं और रत्नजटित स्वर्णके आभूषणोंसे अलंकृत हैं ।

भगवान्‌के चरणोंका प्रेम—यही मानव-जीवनकी साधना और भगवान्‌के चरणोंका प्रेम—यही इस जीवनकी सिद्धि है—

'साधन सिद्धि राम पग नेहू ।'

इस जगत्‌में हम भगवान्‌के प्रेममें जियें—अर्थात् प्रेमकी बात करें, प्रेमकी बात सुनें, प्रेमके कार्य करें, सपने भी देखें तो प्रेमके ही और अन्तमें प्रेममय भगवान्‌में जाकर हम विलीन हो जायँ, प्रेममय भगवान्‌को प्राप्त कर लें, प्रेममय भगवान्‌की लीलामें प्रवेश कर जायँ, प्रेम-धाममें हमें स्थान मिले—मानव-जीवनका वास्तविक साफल्य इसीमें है ।

मानव-जीवनकी सफलता जगत्‌के इतिहासमें नाम रहनेसे नहीं है । इतिहासमें नाम रहेगा तो हमें क्या मिल जायगा ? यदि हम नरकोंमें पड़े हों और इतिहासमें लिखा हुआ है—'बड़े अच्छे पुरुष थे', तो इतिहासमें इस बातका उल्लेख होनेसे हमारी स्थितिमें क्या अन्तर आयेगा ? जगत्‌में नाम रहनेकी कामना और आशा सर्वथा मिथ्या है, भ्रम है । अतएव इस भ्रमको सर्वथा दूर कर भगवान्‌के प्रेमको प्राप्त करनेकी कामना करें तथा उसके लिये प्रयत्न करें ।

भगवान्‌के प्रेमको प्राप्त करनेका सरल उपाय है—अपनी जानमें बुरा काम करें नहीं और जो कुछ भी अच्छा काम करें, वह भगवान्‌की सेवाके लिये, भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये करें । मनुष्य भगवान्‌की ओर लगता है, पर संसारके ममता-मोह सामने आ जाते हैं और मनुष्य सोचता है—'अमुक-अमुक काम निपट जायँ, फिर हम भगवान्‌की प्राप्तिमें पूरे लगेंगे ।' अमुक-अमुक काम कभी निपटते नहीं और देखते-देखते मानव-जीवन पूरा हो जाता है एवं हम हाथ मलते रह जाते हैं । इतना ही नहीं, यदि संसारकी धन-दौलतमें, यहाँके भोगोंमें वृत्ति रही तो मरनेके पश्चात् हम न जानें किस योनिमें जायँगे, हमारी क्या गति होगी, हम कहाँ जाकर प्रेत होंगे । शास्त्रोंमें बड़े विस्तार-से विवेचन मिलता है कि मनुष्य कैसे प्रेत-योनिको प्राप्त होता है । शास्त्रका यह विवेचन सर्वथा सत्य है । यहाँके कुकर्मोंको करते समय मनुष्य सोचता नहीं, विचारता नहीं; पर उन कुकर्मोंके फलस्वरूप जब प्रेतयोनिमें भीषण-भीषण यातनाएँ प्राप्त होती हैं, तब जीव विकल हो जाता है । अतएव अभीसे चेतनेकी आवश्यकता है ।

भगवान्‌ने कृपा करके हमें जो मानव-शरीर प्रदान किया है, यह भगवान्‌के प्रेमको प्राप्त करनेका शुभ अवसर है । यदि हमने यह अवसर खो दिया तो अपना सर्वस्व गवाँ दिया । अतएव बड़ी गम्भीरतासे विचार करनेकी आवश्यकता है । एक-एक श्वास जो जा रहा है, वह हमें मृत्युके निकट ले जा रहा है; शरीरके नाशका उपक्रम हो रहा है । जैसे-जैसे समय बीत रहा है, हम सोचते हैं—हम बड़े हो रहे हैं । पर समय बीतनेके साथ हम बड़े नहीं हो रहे हैं, हम छोटे हो रहे हैं; हमारी आयु बढ़ नहीं रही है, घट रही है । कब मृत्यु हो जाय, कुछ पता नहीं । अतएव मृत्युके आनेसे पहले-पहले हमारा यह धर्म है, परम कर्तव्य है कि इस जगत्‌के समस्त झंझटोंसे अपनेको मुक्त करके भगवान्‌में लग जायँ, मनको भगवान्‌में लगा दें । जहाँ मन भगवान्‌में फँसा कि जगत्‌से हटा । भगवान्‌में आसक्ति हुई कि जगत्‌से विरक्ति अपने-आप हो जायगी । जहाँ प्रकाश आया कि अन्धकार मिटा—यह नियम है ।

भगवान्‌में लगनेका प्रयत्न हमें स्वयं करना होगा; दूसरा कोई हमारे लिये यह करेगा नहीं, कर सकता

नहीं । यह अपने करनेसे होगा, अपनी इच्छासे होगा और होगा अवश्य, यदि हम करना चाहेंगे । निश्चित-निश्चित सिद्धान्त यह है कि भोग मिलने सहज नहीं हैं, पर भगवान् मिलने सहज हैं, यदि हम उन्हें प्राप्त करना चाहें । भक्तकी चाह भगवान्में प्रतिफलित हो जाती है । शास्त्रकी घोषणा है, भगवान्‌की घोषणा है— 'जो मेरा हो गया है, मैं उसका हो जाता हूँ' ।

'मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥' (गीता)

भगवान्‌का यह स्वभाव है —जिसको वे पकड़ लेते हैं, उसको छोड़ नहीं सकते; क्योंकि वे छोड़ना जानते नहीं । हम छुड़ाना चाहेंगे, तब भी वे हमें छोड़ेंगे नहीं । अतएव मानव-देहकी प्राप्तिसे भगवत्प्रेमको प्राप्त करनेका जो अवसर हमें मिला है, हम उसे हाथसे न जाने दें । इसीमें बुद्धिमत्ता है, नहीं तो कुत्ते-बिल्ली आदिकी भाँति हम भी मर जायँगे ।

—'भाईजी'

सेवा—पूजा

प्रत्येक मनुष्यको, प्रत्येक स्त्रीको—हर एक जीवको भगवत्-स्वरूप समझो । तुम किसीकी सहायता नहीं कर सकते; तुम केवल सेवामात्र कर सकते हो; प्रभुकी संतानोंकी सेवा करो, साक्षात् प्रभुकी ही सेवा करो—जब कभी तुम्हें अवसर मिले । यदि प्रभुकी इच्छासे तुम उनकी किसी संतानकी सेवा कर सको तो सचमुच तुम धन्य हो; अपने-आपको बड़ा मत समझो । तुम धन्य हो कि वह अवसर तुम्हें दिया गया—दूसरेको नहीं । उसे पूजाकी ही दृष्टिसे देखो । गरीब और दुःखी लोग तो हमारी ही मुक्तिके लिये हैं, ताकि रोगी, पागल, कोढ़ी और पापीके रूपमें अपने सामने आनेवाले प्रभुकी हम सेवा कर सकें ।

× × × ×

जाओ, जाओ, तुम सब लोग वहाँ जाओ, जहाँ प्लेग फैला हो, जहाँ दुर्भिक्ष काले बादलकी भाँति छा गया हो, जहाँ लोग दुःख-कष्टके भारसे पीड़ित हों, और जाकर उनका दुख हल्का करो । अधिक-से-अधिक क्या होगा ?—यही न कि इस प्रयत्नमें तुम्हारी मृत्यु हो जायगी ? पर उससे क्या ? तुम्हारे समान कितने ही लोग कीड़ोंकी भाँति प्रतिदिन जन्म ले रहे हैं और मरते जा रहे हैं । इससे इस बड़ी दुनियाका, भला, कौन-सा टोटा हो जाता है । तुम्हें मरना तो होगा ही, तो फिर एक महान् आदर्श लेकर क्यों न मरो ? जीवनमें एक महान् आदर्श लेकर मर जाना कहीं बेहतर है ।

× × × ×

शक्ति और अन्य आवश्यक बातें अपने-आप ही आ जायँगी । अपनेको काममें लगा दो; देखोगे, तुममें इतनी शक्ति आने लगेगी कि उसको सहन करना कठिन प्रतीत होने लगेगा । दूसरोंके लिये किया गया तनिक-सा भी कार्य अन्तःस्थ शक्तिको प्रबुद्ध कर देता है; दूसरोंके प्रति थोड़ी-सी भलाईका विचार भी क्रमशः हृदयमें सिंहका बल संचारित कर देता है ।

× × × ×

क्या तुम सोचते हो कि तुम एक चींटीतकको अपनी सहायतासे बचा सकते हो ? यह महान् अधार्मिक विचार है । ऐसा सोचना अधर्म है । दुनियाको तुम्हारी कतई जरूरत नहीं । धन्य हैं हम जो हमें प्रभुके लिये कार्य करनेका सौभाग्य मिला । इस 'सहायता' शब्दको अपने मनसे बिल्कुल निकाल दो । तुम सहायता नहीं कर सकते । तुम केवल पूजा—सेवा ही कर सकते हो । अतएव सारे संसारके प्रति इस प्रकारका श्रद्धापूर्ण भाव लेकर खड़े होओ । तभी पूर्ण अनासक्ति आयगी ।

—स्वामी विवेकानन्द

ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश

उत्कट इच्छा ही प्रेममयसे मिलनेका कारण है

भगवान् जल्दी-से-जल्दी कैसे मिलें—यह भाव जाग्रत् रहनेपर ही भगवान् मिलते हैं। यह लालसा उत्तरोत्तर बढ़ती चले। ऐसी उत्कट इच्छा ही प्रेममयके मिलनेका कारण है और प्रेमसे ही प्रभु मिलते हैं। प्रभुका रहस्य और प्रभाव जाननेसे ही प्रेम होता है। थोड़ा-सा भी प्रभुका रहस्य जान लेनेपर हम उसके बिना एक क्षणभर भी नहीं रह सकते।

पपीहा मेघको देखकर आतुर होकर विह्वल हो उठता है। ठीक उसी प्रकार हमें प्रभुके लिये पागल हो जाना चाहिये। हमें एक-एक पल उसके बिना असह्य हो जाना चाहिये।

मछलीका जलमें, पपीहेका मेघमें, चकोरका चन्द्रमामें जैसा प्रेम है, वैसा ही हमारा प्रेम प्रभुमें हो। एक पल भी उसके बिना चैन न मिले, शान्ति न मिले। ऐसा प्रेम प्रेममय संतोंकी कृपासे ही प्राप्त होता है। चन्दनके वृक्षकी गन्धको लेकर वायु समस्त वृक्षोंको चन्दनमय बना देती है। बनानेवाली तो गन्ध ही है, परंतु वायुके बिना उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इसी प्रकार संतलोग आनन्दमयके आनन्दकी वर्षा कर विश्वको आनन्दमय कर देते हैं, प्रेम और आनन्दके समुद्रको उमड़ा देते हैं। गौराङ्ग महाप्रभु जिस पथसे निकलते थे, प्रेमका प्रवाह बहा देते थे। गोस्वामीजीकी लेखनीमें कितना अमृत भरा पड़ा है! पर ऐसे प्रेमी संतोंके दर्शन भी प्रभुकी पूर्ण कृपासे होते हैं। प्रभुकी कृपा तो सबपर पूर्ण है ही, किंतु पात्र बिना वह कृपा फलवती नहीं होती। शरणागत भक्त ही प्रभुकी ऐसी कृपाके पात्र हैं। अतएव हमें सर्वतोभावेन भगवान्‌के शरण हो जाना चाहिये। सर्वथा उनके आश्रित बनकर रहना चाहिये। सब प्रकारसे उनके चरणोंमें अपनेको सौंप देना चाहिये। भगवान्‌ने कहा भी है—

> तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
> तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
> (गीता १८। ६२)

'हे भारत! सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो। उसकी कृपासे ही परम शान्तिको और सनातन परमधामको प्राप्त होगा।'

वैराग्ययुक्त उपरामताको अपनाना चाहिये

संसारके पदार्थोंमें आसक्ति न होनेका नाम 'वैराग्य' है। संसारके भोगोंमें आसक्ति—प्रीति नहीं, ब्रह्मलोकतकके भोग काक-विष्ठाके समान अत्यन्त हेय प्रतीत हों, यह 'वैराग्य' है। इन पदार्थोंकी ओर वृत्तियाँ जायँ ही नहीं, यह 'उपरामता' है। वैराग्ययुक्त उपरामता ही श्रेष्ठ है। बिना वैराग्यकी उपरामता तो कच्ची है, मनको धोखा देनेवाली है। ऋषभदेवजीमें बड़ी उच्चकोटिकी उपरामता थी, गौतमबुद्धसे भी बढ़कर। उनके समान उपरामताका और कोई उदाहरण नहीं मिलता। संसारमें विचरते हुए भी उनको संसारका ज्ञान नहीं था। वनमें आग लगी, उनको पता ही नहीं चला। शरीरमें आग लगी और वह शान्त भी हो गयी, पर उनको आगका पता ही नहीं चला। यह उपरामताकी सीमा है। वे ऐसी मस्तीमें स्थित थे कि कुछ पता ही नहीं चलता था। उनमें देहाध्यास ही नहीं था। किसी भी संन्यासीमें, किसी भी गृहस्थमें ऐसी उपरामता हो तो वह बड़ी प्रशंसनीय है।

उपरामताके दो भेद हैं—भीतरी और बाहरी। दोनों ही श्रेष्ठ हैं, किंतु आत्माके वास्तविक कल्याणके लिये भीतरीका ही अधिक महत्व है। राजा जनकमें

बाहरी उपरामता नहीं थी। वास्तवमें तो उनके लिये जगत्का अभाव ही था। शुकदेवजीमें दोनों उपरामताएँ थीं—भीतरी भी और बाहरी भी। राजा जनकने उनको इस बातका बोध कराया। उन्होंने शुकदेवजीको बतलाया कि 'महाराज! आपमें भीतरकी एवं बाहरकी दोनों उपरामताएँ हैं। आप मुझसे श्रेष्ठ हैं। आपको कुछ भी सीखना नहीं है, जाकर ध्यान लगाइये।'

शुकदेवजीने जाकर ध्यान लगाया। उनकी समाधि लग गयी और उन्हें परमात्म-तत्त्वकी प्राप्ति हो गयी।

जो भगवान्के दया-तत्त्वको जान लेता है, भगवान उसे हृदयसे लगा लेते हैं

दयासागर भगवान्की जीवोंपर इतनी अपार दया है कि उसकी कोई सीमा ही नहीं। वस्तुतः उन्हें 'दया-सागर' कहना भी उनकी स्तुतिके व्याजसे निन्दा ही करना है; क्योंकि सागर तो सीमावाला है, परंतु भगवान्की दयाकी तो कोई सीमा ही नहीं है। अच्छे-अच्छे पुरुष भी भगवान्की दयाकी जितनी कल्पना करते हैं, वह उससे भी बहुत बढ़कर है। उसकी कोई कल्पना ही नहीं की जा सकती। कोई ऐसा उदाहरण नहीं, जिसके द्वारा भगवान्की दयाका स्वरूप समझाया जा सके। माताका उदाहरण दें तो वह भी उपयुक्त नहीं है। कारण, दुनियामें असंख्य जीव हैं और उन सबकी उत्पत्ति माताओंसे ही होती है। उन सारी माताओंके हृदयोंमें अपने पुत्रोंपर जो दया या स्नेह है, वह सब मिलकर भी उन दयासागरकी दयाके एक बूँदके बराबर भी नहीं है। ऐसी हालतमें और किससे तुलना की जाय! तो भी माताका उदाहरण इसीलिये दिया जाता है कि लोकमें जितने उदाहरण हैं, उन सबमें इसकी विशेषता है। माता अपने बच्चेके लिये जो कुछ भी करती है, उसकी प्रत्येक क्रियामें दया भरी रहती है। इस बातका बच्चेको भी कुछ-कुछ अनुभव रहता है। जब बच्चा शरारत करता है, तब उसके दोष-निवारणार्थ माँ उसे धमकाती-मारती है और उसको अकेला छोड़कर कुछ दूर हट जाती है। ऐसी अवस्थामें भी बच्चा माताके ही पास जाना चाहता है। दूसरे लोग उससे पूछते हैं—'तुम्हें किसने मारा?' वह रोता हुआ कहता है—'माँने।' इसपर वे कहते हैं—'तो आइंदा उसके पास मत जाना।' परंतु वह उनकी बातपर ध्यान न देकर रोता है और माताके पास ही जाना चाहता है। उसे भय दिखलाया जाता है कि 'माँ तुझे फिर मारेगी।' पर इस बातका उसपर कोई असर नहीं होता; वह किसी भी बातकी परवा न करके अपने सरल भावसे माताके ही पास जाना चाहता है। रोता है, परंतु चाहता है माताको ही। जब माता उसे हृदयसे लगाकर उसके आँसू पोंछती है, आश्वासन देती है, तभी वह शान्त होता है। इस प्रकार माताकी दयापर विश्वास करनेवाले बच्चेकी भाँति जो भगवान्के दया-तत्त्वको जान लेता है और भगवान्की मारपर भी भगवान्को ही पुकारता है, भगवान् उसे अपने हृदयसे लगा लेते हैं। फिर जो भगवान्की कृपाको विशेषरूपसे जान लेता है, उसकी तो बात ही क्या है।

संसार-नाट्यशालाके स्वामीको प्रसन्न करनेकी चेष्टा करनी चाहिये

संसार क्या है? एक नाट्यशाला। सभी प्राणी इस नाट्यशालाके पात्र हैं। भगवान् इस नाट्यशालाके स्वामी हैं। गम्भीर दृष्टिसे सोचें तो भगवान् स्वामी भी हैं और नाटकके पात्र भी। सब प्राणियोंके रूपमें वे ही तो हमारे साथ खेल रहे हैं। भगवान् श्रीकृष्णने ग्वाल-बालोंके साथ क्रीड़ाएँ कीं, भगवान् रामने वानर-भालुओं-के साथ लीलाएँ कीं। फिर हम तो मनुष्य हैं। अतएव सब प्राणियोंके रूपमें अपने स्वामीको देख सबके साथ

शुद्ध प्रेमका व्यवहार करना चाहिये । भगवत्कृपाको समझनेका यह सीधा उपाय है ।

स्टेज (मञ्च) पर आकर अपना अभिनय दिखानेके लिये सभी पात्रोंको अवसर दिया जाता है । प्रत्येकका समय निश्चित होता है । अपने निश्चित समयमें वह जैसा भला-बुरा अभिनय करता है, उसीसे उसकी सफलता एवं असफलताका निर्णय होता है । हमें भी अपना अभिनय दिखानेके लिये समय मिला है । निश्चित समय समाप्त होते ही हमें स्टेजसे हट जाना पड़ेगा । अतएव समय बड़ा मूल्यवान् है । वह हाथसे निकल गया तो न जानें फिर कब मिलेगा । लाखों-करोड़ों जीव मौका माँग रहे हैं । न जाने कब हमारा नंबर आयेगा । निश्चित समय निकल जानेपर लाख रुपया देनेपर भी पाँच मिनटका भी समय नहीं मिलेगा । एक सेकेंडका भी समय बढ़नेकी गुंजाइश नहीं है । इसलिये जल्दी-से-जल्दी कार्यकी सिद्धि कर लेनी चाहिये । हमें नाट्यशालाके स्वामी उस परमात्माको प्रसन्न करनेकी चेष्टा करनी चाहिये । स्वामी बड़े दयालु हैं, हमपर बड़ी कृपा करते हैं । वे सब भूलोंको क्षमा कर देते हैं । पर हमें छूटका आसरा कभी भी नहीं लेना चाहिये । स्वामीको अपने कार्यसे प्रसन्न करनेके लिये, उसके संकेतपर नाचनेके लिये कठपुतली बन जाना चाहिये । अपने स्वामीके संकेतको हम समझते रहें, स्वामीकी इच्छाके अनुकूल बन जायँ । यही यथार्थ शरण है, वास्तविक भक्ति है ।

(संकलित)

कर्मफलकी गहनता

स्वकर्मफलनिक्षेपं विधानपरिरक्षितम् । भूतग्राममिमं कालः समन्तादपकर्षति ॥
अचोद्यमानानि यथा पुष्पाणि च फलानि च । स्वं कालं नातिवर्तन्ते तथा कर्म पुराकृतम् ॥
सम्मानश्चावमानश्च लाभालाभौ क्षयोदयौ । प्रवृत्ता विनिवर्तन्ते विधानान्ते पदे पदे ॥
आत्मना विहितं दुःखमात्मना विहितं सुखम् । गर्भशय्यामुपादाय भुज्यते पौर्वदेहिकम् ॥

(महाभारत, शान्ति० ३२२ । ११—१४)

अपने-अपने कर्मका फल एक धरोहरके समान है । वह शास्त्र-विधानके अनुसार सुरक्षित रहता है । उपयुक्त अवसर आनेपर काल इस प्राणिसमुदायको कर्मानुसार खींच ले जाता है । जैसे फूल और फल किसीकी प्रेरणाके बिना ही अपने समयपर वृक्षोंमें लग जाते हैं, उसी प्रकार पहलेके किये हुए कर्म भी अपने फलभोगके समयका उल्लङ्घन नहीं करते हैं । सम्मान-अपमान, लाभ-हानि तथा उन्नति-अवनति—ये पूर्वजन्मके कर्मोंके अनुसार पग-पगपर प्राप्त होते हैं और प्रारब्धभोगके पश्चात् पुनः निवृत्त हो जाते हैं । दुःख अपने ही किये हुए कर्मोंका फल है और सुख भी अपने ही पूर्वकृत कर्मोंका परिणाम है । जीव माताकी गर्भशय्यामें आते ही पूर्व शरीरद्वारा उपार्जित सुख-दुःखका उपभोग करने लगता है ।

स्वयं-भगवान्‌का श्रीकृष्णरूपमें अवतरण*

भाद्रकृष्ण अष्टमीका दिन परम धन्य है। इसी दिन मथुराके कंस कारागृहके कृष्ण तम घन निभृत कक्षमें घनश्याम श्रीकृष्ण — अनिर्वचनीय अचिन्त्य अनन्त ऐश्वर्य सौन्दर्य माधुर्य परिपूर्ण, अनिर्वचनीय-अचिन्त्य अनन्य अनन्त दिव्य रस सुधा सार समुद्र, अनिर्वचनीय अचिन्त्य-अनन्त सर्वविरुद्ध-गुणधर्माश्रय, सर्वलोक-महेश्वर, सर्वातीत, सर्वमय, नित्य निर्गुण-सगुण, समस्त-अवतार-बीज, अनन्त-अद्भुत शक्ति-सामर्थ्य स्रोत, सहज अजन्मा-अविनाशी, सच्चिदानन्द स्वेच्छा-विग्रह, स्वयं-भगवान्‌का महान् मङ्गलमय, महान् महिमामय और महान् मधुरिमामय प्राकट्य हुआ था।

घोर-बल-दर्पित अतिशय अत्याचारी असुररूप दुष्ट राजाओंके तथा अनाचार-दुराचार-परायण प्राणियोंके विषम भारसे आक्रान्त दुःखिनी वसुंधराने गोरूप धारण करके करुण क्रन्दन करते हुए ब्रह्माजीके पास जाकर अपनी दुःख गाथा सुनायी। पृथ्वीदेवीने कहा—

'जो भगवान् श्रीकृष्णकी भक्तिसे विहीन हैं और जो श्रीकृष्णभक्तोंके निन्दक हैं; जो पिता, माता, गुरु, स्त्री, पुत्र और पोष्य-वर्गका पालन नहीं करते; जो दया-धर्मसे रहित हैं, गुरु और देवोंके निन्दक हैं; जो मित्रद्रोही, कृतघ्न, झूठी गवाही देनेवाले, विश्वासघातक और स्थाप्यधनका अपहरण करनेवाले हैं; जो कल्याणरूप मन्त्र और एकमात्र मङ्गलजनक हरिनामको बेचते हैं; जो जीवोंकी हिंसा करते हैं और अत्यन्त लोभी हैं; जो मूढ़लोग पूजा, यज्ञ, उपवास, व्रत, नियम—कुछ भी नहीं करते; जो पापात्मालोग गो, ब्राह्मण, देवता, वैष्णव, श्रीहरि, हरिकथा तथा हरिभक्तिसे द्वेष करते हैं— ऐसे जो दैत्यगण विविध रूप धारण करके अनवरत अत्याचार अनाचार-दुराचार कर रहे हैं, उन सबके भीषण भारसे मैं अत्यन्त पीड़ित हूँ।'

तब पृथ्वीकी प्रार्थना सुनकर ब्रह्माजीने उसको साथ लेकर भगवान् शंकर और अन्यान्य देवताओंको भी साथ लिया और वे क्षीरसागरके तटपर गये। वहाँ उन्होंने पुरुषसूक्तके द्वारा भगवान्‌का स्तवन किया। इसके कुछ देर बाद ब्रह्माजी ध्यानमग्न हो गये और उन समाधिस्थित ब्रह्माजीको क्षीराब्धिशायी भगवान्‌की देववाणी सुनायी दी। ब्रह्माजीने उसे सुनकर देवताओंसे कहा—'हमलोगोंकी प्रार्थनाके पूर्व ही भगवान् वसुंधराकी विपत्तिको जान चुके हैं। वे ईश्वरोंके भी ईश्वर (ईश्वरेश्वरः) अपनी कालशक्तिके द्वारा धरणीका भार उतारनेके लिये जबतक पृथ्वीपर लीला करें, तबतक तुमलोग भी यदुकुलमें जन्म लेकर उनकी लीलामें सहयोग प्रदान करो। भगवान्‌के अंशसे सहस्रवदन स्वराट् अनन्तदेव भगवान्‌से पहले ही प्रकट हो जायँगे। भगवती विष्णुमाया भी नन्दपत्नी यशोदाके गर्भसे अवतरित होंगी। वे परम पुरुष साक्षात् भगवान् स्वयं वसुदेवके घरमें प्रकट होंगे। उनकी सेवा-प्रीतिके लिये (अथवा उनकी तथा उनकी प्रियतमा श्रीराधाकी सेवाके लिये) देवाङ्गनाएँ भी वहाँ जन्म-धारण करें—

> वसुदेवगृहे साक्षाद् भगवान् पुरुषः परः।
> जनिष्यते तत्प्रियार्थं सम्भवन्तु सुरस्त्रियः॥
>
> (श्रीमद्भागवत १०।१।२३)

क्षीरोदशायी भगवान्‌की इस देववाणीसे यही सिद्ध होता है कि अबकी बार साक्षात् परम पुरुष स्वयं-भगवान् ही प्रकट होंगे (क्षीराब्धिशायी नहीं)। भगवान्‌के पुरुषावतार, गुणावतार, लीलावतार, अंशावतार, कलावतार आदि अनेक प्रकारके अवतार होते हैं और सभी पूर्ण होते हैं; पर उनमें लीलाभेदसे शक्तिका प्राकट्य न्यूनाधिक रहता है। किंतु यह अवतार स्वयं-भगवान्‌का है। इसमें अन्य सभी अवतारों के, भगवत्स्वरूपोंके भाव सम्मिलित हैं।

ब्रह्मवैवर्तपुराणके अनुसार ब्रह्मा-शंकर आदि समस्त देवता गोलोकमें स्वयं-भगवान् श्रीकृष्णकी सेवामें जाकर वहाँ श्रीराधा-माधवके दर्शनका सौभाग्य प्राप्त करते हैं और पृथ्वीका भीषण भार हरण करने और मधुर लीला रसका विस्तार करनेके लिये भगवान्‌से अवतार ग्रहणकी महत्त्वपूर्ण कातर प्रार्थना करते हैं।

देवताओंकी प्रार्थना सुनकर भगवान् द्रवित हो जाते हैं और उन्हें अपनी अनन्त महिमा और भक्तोंकी महानताका परिचय देकर अन्तमें कहते हैं 'देवताओ! तुमलोग अभी

---

* नित्यलीलालीन श्रीभाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) द्वारा श्रीकृष्णजन्माष्टमी-महोत्सवपर दिये गये एक प्रवचनका कुछ अंश।

अपने-अपने घर जाओ, मैं स्वयं पृथ्वीपर अवतीर्ण होऊँगा; तुमलोग भी अंशरूपसे पृथ्वीपर चलना।' इसके बाद भगवान् दिव्य गोप-गोपियोंको बुलाकर उनसे मधुर वचन कहते हैं—'गोप-गोपीगण! तुम सब नन्दके व्रजधाममें अवतीर्ण होओ। श्रीराधिके! तुम वृषभानुके घर जाओ, मैं तुमको बालकरूपमें कमल-काननमें ग्रहण करूँगा। राधे! तुम मेरी प्राणाधिका हो, मैं भी तुम्हारा प्राणाधिक हूँ। हम दोनोंमें कुछ भी भेद नहीं है, हम सदा ही एक हैं।'

त्वं मे प्राणाधिका राधे तव प्राणाधिकोऽप्यहम्।
न किंचिदावयोर्भिन्नमेकाङ्गं सर्वदैव हि॥
(ब्र० वै०, कृष्ण० ६। ६७)

इसी बीचमें वहाँ एक दिव्य मणि-रत्नों, पारिजात-कुसुम मालाओं, श्वेत चामरों तथा विशुद्ध काषाय-वस्त्रोंसे विभूषित शत-शत-सूर्य-प्रभाओंके सदृश तेजःपुञ्ज रथ आया। उस रथमें कमनीय श्यामसुन्दर शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म धारण किये पीताम्बरधारी भगवान् नारायण विराजित थे। उनके साथ महादेवी सरस्वती और महालक्ष्मी भी थीं। वे भगवान् नारायण रथसे उतरे और तुरंत श्रीकृष्णके शरीरमें लीन हो गये तथा इस परमाश्चर्यको देखकर सब लोग चकित हो गये—

नत्वा नारायणो देवो विलीनः कृष्णविग्रहे।
दृष्ट्वा च परमाश्चर्यं ते सर्वे विस्मयं ययुः॥
(वही, ६। ८७)

इसके पश्चात् एक दूसरे परम सुन्दर देदीप्यमान रथमें चतुर्भुज, वनमाला-विभूषित, अपार-प्रभाशाली जगत्पति भगवान् विष्णु पधारे और वे भी रथसे उतरकर भगवान् श्रीराधिकेश्वरके शरीरमें लीन हो गये—

'स चापि लीनस्तत्रैव राधिकेश्वरविग्रहे॥'
(वही, ६। ९०)

इस प्रसङ्गसे भी यही सिद्ध होता है कि भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् स्वयं-भगवान् हैं और उनके इस स्वरूपमें सबका तथा सबके लीला-कार्योंका एकत्र समावेश है। ब्रह्मवैवर्तपुराणमें आता है कि इसके पश्चात् भगवान् श्रीकृष्णने देवी कमला लक्ष्मीसे मुस्कुराते हुए कहा—'देवि! तुम कुण्डिनपुरमें राजा भीष्मकके घर देवी रुक्मीके उदरसे अवतरित होओ; मैं वहाँ जाकर तुम्हारा पाणिग्रहण करूँगा।' तदनन्तर वहाँ पधारी हुई देवी पार्वतीसे भगवान्ने कहा—'तुम सृष्टि-संहारकारिणी महामाया हो, तुम अंशरूपसे व्रजधाममें जाकर यशोदाके गर्भसे अवतीर्ण होओ। मानवगण नगर-नगरमें भक्तिपूर्वक तुम्हारी पूजा करेंगे। तुम्हारे प्रकट होते ही वसुदेव यशोदाके सूतिकागृहमें मुझे रखकर तुम्हें ले जायँगे। फिर कंसको देखते ही पुनः तुम भगवान् शिवके पास चली जाना। मैं पृथ्वीका भार उतारकर अपने धाममें लौट आऊँगा।'

इसके बाद कौन देवता, किस नाम-रूपसे, कहाँ अवतार लेंगे—विशिष्ट-विशिष्ट देवताओंके लिये भगवान्ने इसका निर्देश किया है।

श्रीकृष्णका दिव्य विग्रह अप्राकृत—भगवत्स्वरूप ही है

भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं-भगवान् हैं। उनका दिव्य शरीर कर्मजनित 'प्राकृत' या सिद्धिजनित 'निर्माणशरीर' नहीं है। वह प्राकृत शरीरसे सर्वथा विलक्षण हानोपादानरहित दिव्य सच्चिदानन्दमय भगवत्स्वरूप है। इसके प्रचुर प्रमाण श्रीमद्भागवत, महाभारत तथा अन्यान्य ग्रन्थोंमें उपलब्ध हैं।

ब्रह्मवैवर्तपुराणमें ही श्रीकृष्ण और सनत्कुमारके वार्तालापका एक सुन्दर प्रसङ्ग आता है। इसमें भगवान् श्रीकृष्णने अपनेको 'प्राकृत' बतलानेकी चेष्टा की है और सनत्कुमारने उनके प्रश्नोंके उत्तरमें उनकी भगवत्ता सिद्ध की है, उनके शरीरको साक्षात् चिदानन्दमय भगवद्देह बतलाया है और 'वासुदेव' नामका बड़ा ही विलक्षण अर्थ किया है। प्रसङ्ग इस प्रकार है—

एक बार ब्रह्मतेजसे उद्भासित सैकड़ों बड़े-बड़े ऋषि मुनीश्वर भगवान् श्रीकृष्णके दर्शनके लिये आये। फिर उस मुनिसभामें परम तेज-पुञ्ज सर्वाङ्गसुन्दर पाँच वर्षके नग्न बालकके रूपमें श्रीसनत्कुमारजी पधारे। उन्होंने आकर मुनियोंसे कुशल-प्रश्न करके कहा कि 'श्रीकृष्णसे तो कुशल पूछना व्यर्थ है। ये स्वयं ही समस्त कल्याणके बीज हैं। अथवा इस समय इन परमात्मा श्रीकृष्णका दर्शन ही आपलोगोंके लिये कुशल है; प्रकृतिसे अतीत, निर्गुण, निरीह, सर्वबीज और तेजःस्वरूप ये भगवान् भक्तोंके

अनुरोधसे ही पृथ्वीका भार उतारनेके लिये अवतरित हुए हैं।' इसपर भगवान् श्रीकृष्णने उनसे कहा—'विप्रवर! जब शरीरधारी मात्रके लिये कुशल-प्रश्न अभीप्सित है, तब एक मैं ही कुशल प्रश्नका पात्र क्यों नहीं हूँ?'—

शरीरधारिणश्चापि कुशलप्रश्नमीप्सितम्।
तत्कथं कुशलप्रश्नं मयि विप्र न विद्यते॥

(ब्रह्मवैवर्त्त०, कृष्ण० ८७। २२)

सनत्कुमारजीने उत्तर दिया—'प्रभो! शुभ-अशुभ सब प्राकृत शरीरमें ही हुआ करते हैं; जो शरीर नित्य है और सारे कुशलोंका बीज है, उसके लिये कुशल-प्रश्न निरर्थक ही है।'

शरीरे प्राकृते नाथ सततं च शुभाशुभम्।
नित्यदेहे क्षेमबीजे शिवप्रश्नमनर्थकम्॥

(वही, ८७। २३)

तब भगवान् बोले—'विप्रवर! शरीरधारी मात्र ही प्राकृतिक माने जाते हैं; क्योंकि नित्या प्रकृतिके बिना शरीर होता ही नहीं।'

यो यो विग्रहधारी च स स प्राकृतिकः स्मृतः।
देहो न विद्यते विप्र तां नित्यां प्रकृतिं विना॥

(वही, ८७। २४)

इसके उत्तरमें सनत्कुमारजीने कहा—'प्रभो! जो देह रज-वीर्यके द्वारा उत्पन्न होते हैं, वे ही प्राकृतिक माने जाते हैं। आप तो स्वयं सबके आदि हैं, सबके बीज—कारण हैं और प्रकृतिके नाथ हैं, स्वयं-भगवान् हैं। आपका देह प्राकृतिक कैसे हो सकता है। आप वेदवर्णित समस्त अवतारोंके निधान, सबके अविनाशी बीज, नित्य सनातन स्वयंज्योतिःस्वरूप परमात्मा परमेश्वर हैं।'

रक्तबिन्दूद्भवा देहास्ते च प्राकृतिकाः स्मृताः।
कथं प्रकृतिनाथस्य बीजस्य प्राकृतं वपुः॥
सर्वबीजश्च सर्वादिर्भवांश्च भगवान् स्वयम्।
सर्वेषामवताराणां निधानं बीजमव्ययम्॥
कृत्वा वदन्ति वेदाश्च नित्यं नित्यं सनातनम्।
ज्योतिःस्वरूपं परमं परमात्मानमीश्वरम्॥

(वही, ८७। २५–२७)

इसपर श्रीकृष्णने पुनः कहा—'विप्रवर! इस समय मैं वसुदेवका पुत्र हूँ, अतएव मेरा शरीर रजोवीर्याश्रित ही है; फिर भी मैं प्राकृतिक और कुशल-प्रश्नका पात्र नहीं हूँ?'

साम्प्रतं वासुदेवोऽहं रक्तवीर्याश्रितं वपुः।
कथं न प्राकृतो विप्र शिवप्रश्नमभीप्सितम्॥

(वही, ८७। २९)

'वासुदेव' शब्दका अर्थ

इसपर अन्तमें सनत्कुमारजी बोले—"नाथ! ('वासुदेव' शब्दका अर्थ दूसरा है—) 'वासु'का अर्थ है—जिसके लोमकूपोंमें अनन्त विश्व स्थित हैं, वे सर्व-निवास महान् विराट् पुरुष; और उनके जो 'देव' हैं—स्वामी हैं, वे हैं आप स्वयं परमब्रह्म 'वासुदेव'। इसी 'वासुदेव' नामका चारों वेद, पुराण, इतिहास, आख्यान आदि वर्णन करते हैं। आपका शरीर रज-वीर्यसे बना है, यह किस वेदमें निरूपित है? ये सब मुनिगण इस विषयके साक्षी हैं, धर्म भी सर्वत्र साक्षी हैं और वेद तथा चन्द्र-सूर्य भी मेरे साक्षी हैं कि आप सच्चिदानन्द-मय शरीर हैं।'

वासुः सर्वनिवासश्च विश्वानि यस्य लोमसु।
तस्य देवः परं ब्रह्म वासुदेव इतीरितः॥
वासुदेवेति तन्नाम वेदेषु च चतुर्षु च।
पुराणेष्वितिहासेषु वार्तादिषु च दृश्यते॥
रक्तवीर्याश्रितो देहः क्व ते वेदे निरूपितः।
साक्षिणो मुनयश्चात्र धर्मः सर्वत्र एव च॥
साक्षिणो मम वेदाश्च रविचन्द्रौ च साम्प्रतम्॥

(ब्रह्मवैवर्त०, श्रीकृष्ण-जन्म-खण्ड, ८७। १३०–३२)

इन्हीं साक्षात् स्वयं-भगवान् श्रीकृष्णने द्वापरयुगके अन्तमें भारतमें अवतीर्ण होकर इस धराको धन्य किया था।

अब इनकी प्राकट्य-लीलाका पवित्र स्मरण करें।

श्रीकृष्णका प्राकट्य

मङ्गलमय भाद्रपदके कृष्णपक्षकी अष्टमी तिथि है, मध्य रात्रिका समय है, सब ओर घोर अन्धकारका साम्राज्य है; परंतु अकस्मात् समस्त प्रकृति उल्लाससे भरकर उत्सवमयी बन

जाती है, सारी प्रकृति अपने परमाश्रय परमदेवका स्वागत करनेके लिये सज-धजकर समुत्सुक हो उठती है। सब दिशाएँ प्रसन्न हो गयीं, नदियोंका जल निर्मल हो गया, सरोवरोंमें रात्रिको ही कमल खिल उठे, वृक्षोंकी शाखाएँ पुष्प-फलोंसे लद गयीं, साधुओंका मन आनन्दोन्मत्त हो गया, निर्मल मन्द-सुगन्ध मलय-समीर बहने लगा, देवताओंके बाजे स्वयं ही बज उठे, गन्धर्व-किंनर नाचने-गाने लगे और सिद्ध-चारण—सब स्तवन करने लगे। क्रूर कंसका कारागार एक विलक्षण ज्योतिसे जगमगा उठा। महामहिम श्रीवसुदेवजीको अनन्त सूर्य-चन्द्रमाओंके सदृश एक प्रचण्ड-शीतल प्रकाश दिखायी दिया और उसमें दीख पड़ा शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मसे सुशोभित, चतुर्भुज, विशालनयन, वक्षःस्थलपर भृगुलता, श्रीवत्स और रत्नहार धारण किये, विविध भूषणोंसे विभूषित, किरीट-मुकुट-कुण्डलधारी, जिसके अङ्ग-अङ्गसे सौन्दर्य-माधुर्य-ऐश्वर्य-की रसमयी त्रिवेणी बह रही है—ऐसा एक चमत्कारपूर्ण अद्भुत बालक।

वसुदेव-देवकीने स्तुति की, भगवान् श्रीकृष्णने उनको अभयका आश्वासन देकर अपने पूर्व-अवतारोंके सम्बन्धकी तथा वरदानकी बातका स्मरण कराया। तब देवकीने उनसे कहा, 'मैं कंसके भयसे अधीर हो रही हूँ—कंसादहमधीरधीः।' श्रीभगवान्‌ने कहा—'यदि ऐसी बात है तो मुझे तुरंत गोकुलमें पहुँचा दो और यशोदाके गर्भसे प्रकट हुई महामायाको ले आओ।'

इतना कहकर भगवान् तुरंत शिशुरूप हो गये। भगवान्‌के शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी ऐश्वर्यरूपको देखकर भी वसुदेव—भगवान्‌की लीलाशक्तिकी प्रेरणासे वात्सल्य-रसका आविर्भाव होनेपर—डर गये और शिशुको हृदयसे लगाकर ले जानेका विचार करने लगे। पर जायँ कैसे ? हाथोंमें हथकड़ी है, पैरोंमें बेड़ी है, लोहेका मजबूत दरवाजा बंद है, बाहर शस्त्रधारी प्रहरी हैं; इससे वे अत्यन्त विषाद-ग्रस्त होकर मन-ही-मन भगवान्‌के शरणापन्न हो गये। बस, तुरंत हाथोंकी हथकड़ी, पैरोंकी बेड़ी खुल गयी और विशाल लौह-कपाट भी अपने आप ही खुल गये। यह सब भगवान्‌की अघट-घटना-पटीयसी मायाशक्तिसे हो गया, यह नहीं मानना चाहिये; श्रीकृष्णको हृदयपर रखते ही सारे बन्धन अपने-आप कट जाते हैं, फिर बन्धन-मुक्तिके लिये कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। इसके विपरीत जबतक श्रीकृष्णको हृदयपर नहीं रक्खा जाता, तबतक हजार-लाख प्रयास करनेपर भी बन्धन नहीं खुलता। मायाकी साँकलोंसे हाथ-पैर और गलेसे बँधा हुआ बहिर्मुख जीव कामना-वासनाके बंद दृढ़ लौह-कपाटोंके अंदर संसारके कारागारमें पड़ा रहता है। काम-क्रोधादि शत्रु सदा उस कैदखानेपर पहरा लगाये रहते हैं। अतएव वह जीव किसी प्रकार भी कैदसे नहीं छूट सकता। पर जब वसुदेवजीकी भाँति वह श्रीकृष्णको छातीसे चिपकाकर व्रजकी राहपर चल देता है, तब माया-मोहकी सारी हथकड़ी-बेड़ी खुल जाती हैं, काम-क्रोधादि पहरेदार सो जाते हैं, कामना-वासनाके कपाट खुल जाते हैं—बिना ही प्रयास संसार-बन्धनसे उसे मुक्ति मिल जाती है। भगवान् वसुदेवजीकी गोदमें आकर जगत्‌को इस बातका संकेत कर रहे हैं।

गोकुलके लिये प्रस्थान

वसुदेवजी कारागारसे निकलकर धीरे-धीरे बाहर सड़कपर आ गये। श्रीकृष्ण अप्राकृत परमानन्दघनविग्रह हैं, अतः उन्हें हृदयपर रखकर चलनेवाले वसुदेवको किसी कष्टका तो अनुभव हुआ ही नहीं, वरं पद-पदपर वे आनन्दसिन्धुमें अवगाहन करने लगे। बहिर्मुख जीव अभिमानका भार उठाकर संसार-पथपर चलता हुआ पद-पदपर दुःख-भोग करता है। इस दुःखसे छूटना हो तो भाग्यवान् वसुदेवकी भाँति श्रीकृष्णको हृदयपर रखकर उनकी लीलाभूमि व्रजकी ओर चल देना चाहिये।

वसुदेवजी इधर-उधर चारों ओर भयभरी दृष्टि डालते हुए धीरे-धीरे चुपचाप व्रजकी ओर बढ़ रहे हैं। इसी समय देवराज इन्द्रके आदेशसे आकाशमें काले-काले बादल उमड़ आये, धीरे-धीरे गरजने लगे, बीच-बीचमें बिजली चमकने लगी और लगातार वर्षा होने लगी। इन्द्रने विचार किया कि 'मूसलधार वर्षा होनेसे मथुरावासी कोई भी घरसे बाहर नहीं निकलेंगे, अतएव वसुदेवजीके जानेका किसीको पता नहीं लगेगा। बीच-बीचमें बिजलीका प्रकाश होते रहनेसे अँधेरेमें वसुदेवको आगे बढ़नेमें भी कोई कष्ट नहीं होगा।' श्रीकृष्णको हृदयमें रखकर अन्धकारमय मार्गमें चल पड़नेपर भी मनुष्य पथभ्रष्ट नहीं हो सकता। इसीलिये बिजली आज बार-बार हँस-हँसकर वसुदेवजीको पथ बतला रही है। वसुदेवजी चुपचाप तुरंत शीघ्रतासे आगे बढ़े जा रहे हैं।

आकाशमें मेघोंके आते ही भगवान् अनन्तदेव श्रीकृष्णकी सेवाका सुअवसर जानकर वहाँ आ गये और अपने हजार फनोंको फैलाकर वसुदेवजीके सारे अङ्गोंपर छाया किये उनके पीछे-पीछे चलने लगे।

अनन्तदेव श्रीसंकर्षण श्रीकृष्णका ही दूसरा रूप हैं; परंतु अनादिसिद्ध दास्यभावके कारण वे विभिन्न रूपोंमें सदा श्रीकृष्णकी सेवा ही करते रहते हैं। श्रीकृष्णके स्वरूपानन्दकी अपेक्षा सेवानन्दका ही माधुर्य अधिक है, अतएव स्वयं श्रीकृष्णतक इस आनन्दका आस्वादन करनेके लोभसे दासाभिमानी अपने ही रूपसे अपनी सेवा करते हैं।

शय्यासनपरीधानपादुकाच्छत्रचामरैः ।
किं नाभूस्तस्य कृष्णस्य मूर्तिभेदैस्तु मूर्तिषु ॥

—ब्रह्माण्डपुराणके इस वचनके अनुसार संकर्षण श्रीशेषजी शय्या, आसन, वस्त्र, पादुका, छत्र, चँवर आदि नाना मूर्तियाँ धारण करके अखिलरसामृतमूर्ति श्रीगोविन्दकी सेवा किया करते हैं। शेषजी फनोंकी छाया किये चलते हैं, इस बातका वसुदेवजीको पता भी नहीं है।

वसुदेवजी यमुनातटपर पहुँच गये। पर उन्होंने देखा—यमुनामें मानो भयानक तूफान आ गया है। बड़ी ऊँची-ऊँची पहाड़-जैसी तरंगें उठ रही हैं; सैकड़ों-हजारों बड़े-बड़े भँवर पड़ रहे हैं। वसुदेवजी यमुनाका यह भीषण रूप देखकर चकित और भयभीत हो रहे हैं। सोचते हैं—रात बीत रही है, पार जाकर लौट न सका तो पता नहीं, सबेरे कंस जागते ही क्या अनर्थ कर डालेगा! वे यमुनाके तीरपर असीम अनन्त भवसागरसे तुरंत पार कर देनेवाले श्रीहरिको गोदमें लिये हुए ही उस पार पहुँचनेकी चिन्ता कर रहे हैं। यह वात्सल्य-रसकी अनिर्वचनीय महिमा है। फिर भगवान्‌की शैशव-माधुरी भी विलक्षण चमत्कारी वस्तु है। भुक्ति-मुक्ति-सिद्धिकी स्पृहा, ऐश्वर्यज्ञान, तत्त्वानुसंधान—कुछ भी क्यों न हो, दिव्य वात्सल्य-रस और शैशव-माधुरी-रसके सुधा-स्रोतमें सब तुरंत बह ही जाते हैं।

वसुदेवजी श्रीकृष्णको गोदमें लिये यमुनातटपर खड़े व्याकुल चित्तसे चिन्ता कर रहे हैं। उधर यमुनाजी श्रीकृष्णके चरण-स्पर्शकी कामनासे व्याकुल हैं और धैर्य छोड़कर अस्त-व्यस्त तरंगोंके द्वारा बढ़ी चली आ रही हैं। यमुनाका ताण्डव-नृत्य हो रहा है और वे उछल-उछलकर अपने परम प्रेमास्पद प्रभुके अरुण चरणोंका स्पर्श पानेके लिये बारंबार मस्तकको ऊँचा उठाये जा रही हैं। वसुदेवजीने व्याकुल होकर चारों ओर देखा—अगाध जल है और जलराशिके पहाड़-के-पहाड़ उछल रहे हैं। भगवान्‌ने पिता वसुदेवजीकी व्याकुलता देखकर धीरेसे सहसा यमुनाके मस्तकको अपने चरण-कमलोंका स्पर्श-सुख प्रदान कर दिया। यमुना निहाल होकर झुकने लगीं, मानो दण्डवत् कर रही हैं। वसुदेवजीने चकित दृष्टिसे देखा—सामनेका जल घट रहा है। वे कुछ और आगे बढ़े, जल और भी कम मिला। श्रीकृष्ण-चरण-स्पर्शकी अपार तृष्णा लिये जो यमुना अपनी उत्ताल तरंग-भङ्गिमाओंसे ताण्डव-नृत्य करती हुई बढ़ी चली जा रही थीं, श्रीकृष्ण-चरणका स्पर्श पाते ही उनकी बाढ़ तुरंत रुक गयी, तरंगें क्रमशः थम गयीं, बहावका वेग रुक गया, यमुना निश्चल—निस्तरंग हो गयीं। यमुनाका वह भीषण तूफान वस्तुतः तूफान नहीं था, वह था श्रीकृष्णचरण-स्पर्शकी उत्कट लालसासे सहज ही होनेवाला यमुनाका ताण्डव-नृत्य। अब वसुदेवजी अनायास ही पार हो गये।

पर किस रास्तेसे जाकर वे तुरंत नन्दघरमें पहुँचें! यमुनाके निर्जन तटपर इस निस्तब्ध निशामें उन्हें कौन मार्ग बताये! वसुदेवजी श्रीकृष्णको गोदमें लिये किसी तरह धीरे-धीरे आगे बढ़ने लगे। उनके पीछेसे यमुनाजी मन-ही-मन मृदु-मृदु कलकल निनादके द्वारा कहने लगीं—'जाओ, वसुदेव! याद रक्खो—श्रीकृष्णका भक्त कभी पथ-भ्रष्ट नहीं होता, मार्ग नहीं भूलता; वह जिस ओर चलने लगता है, उसी ओर उसके लिये मार्ग बन जाता है। वसुदेव! तुम्हें मार्ग खोजना नहीं पड़ेगा, मार्ग स्वयं ही तुम्हें खोज लेगा। वह पथ ही तुम्हारा पथ-प्रदर्शक बनकर तुम्हें नन्दालयमें ले जायगा। तुमने श्रीकृष्णको गोदमें जो ले रक्खा है। फिर चिन्ता क्यों कर रहे हो?'

श्रीवसुदेवजी सीधे नन्दमहलमें पहुँच गये। देखा, सभी सो रहे हैं। वे सहज ही सूतिकागृहमें जा पहुँचे और शिशु श्रीकृष्णको यशोदाके पास सुलाकर यशोदाकी सद्यःप्रसूता कन्याको लेकर मथुराके कारागारमें लौट आये। उनके लौटते ही पूर्ववत् सब कुछ ज्यों-का-त्यों हो गया। यशोदाको यह भी पता नहीं लगा कि उनके पुत्रका जन्म हुआ या कन्याका। शिशुरूप श्रीकृष्णके लीलासे रोनेपर ही यशोदा

जागीं, तब उन्हें पता लगा कि उनके नील कमलदलके सदृश श्यामवर्ण पुत्र हुआ है—

> ददृशे च प्रबुद्धा सा यशोदा जातमात्मजम्।
> नीलोत्पलदलश्यामं ततोऽत्यर्थं मुदं ययौ ॥
> (विष्णुपुराण ५ । ३ । २३)

तदनन्तर वे मूर्तिमान् आनन्द-ज्योति श्रीगोविन्द माता यशोदाकी गोदमें इस प्रकार शोभा पाने लगे, मानो चिदानन्द-सरोवरमें ऐसे एक नीलकमलका विकास हुआ, जिसकी सुगन्ध अबतक भ्रमरोंको कभी सूँघनेको नहीं मिली थी, जिसकी सुगन्धको पवन कभी भी हरण करके नहीं ले जा पाया था, जिसको कभी कोई तरंग-कण स्पर्श नहीं कर पाया था और जिसको इससे पहले किसीने भी नहीं देखा था। ऐसे अनाघ्रात, अनपहृत, अनुपहत और अदृष्ट नील-कमल-सदृश श्रीकृष्ण हैं । अर्थात् इससे पूर्वके भ्रमररूप भक्तोंने ऐश्वर्यमय नारायण आदि रूपोंका आस्वादन प्राप्त किया था, इनका नहीं; अतएव ये अनाघ्रात हैं । इससे पूर्वके पवनरूप महाकवियोंने श्रीनारायणादि ऐश्वर्यरूपोंका गुणगान किया था, इनका नहीं; अतएव ये अनपहृत हैं। प्राकृत कमल जैसे जलमें उत्पन्न होता है, वैसे यह कमल जलमें यानी प्रपञ्च-जगत्‌में नहीं अवतीर्ण हुआ है । जलमें उत्पन्न कमलको तरंगोंके थपेड़े लगते हैं, पर तरङ्गरूप प्रपञ्चान्तर्गत गुण इनको कभी छूतक नहीं गये हैं; इससे ये अनुपहत हैं और ऐश्वर्यमय या ऐश्वर्य-माधुर्य-मिश्रित रूप पहले देखे गये हैं, पर यशोदोत्सङ्गविहारी इन नीलश्यामको अबतक किसीने नहीं देखा है; इसलिये ये अदृष्ट हैं।

इसका दूसरा भाव यह भी परम सत्य है कि श्रीभगवान्‌का यह मधुरतम स्वरूप ऐसा विलक्षण है कि इसमें क्षण-क्षण नये-नये सौन्दर्य-माधुर्यादि रसोंका, प्रतिक्षण नये-नये लीला-भावोंका विकास-उल्लास होता रहता है। इसलिये प्रेमी भक्त प्रतिक्षण ही इनके प्रत्येक भावको अभूतपूर्व ही अनुभव करते हैं—इनका प्रत्येक भाव नित्य नवीन, सदा अनास्वादित ही दीखता है—

> अनाघ्रातं भृङ्गैरनपहृतसौगन्ध्यमनिलै-
> रनुत्पन्नं नीरेष्वनुपहतमूर्मीकणभरैः।
> अदृष्टं केनापि क्वचन च चिदानन्दसरसो
> यशोदायाः क्रोडे कुवलयमिवौजस्तदभवत् ॥

श्रीकृष्णावतारके प्रयोजन

परात्पर ब्रह्मके इस दिव्य अवतारके प्रधान हेतु बतलाते हुए कहा गया है—

> आत्मारामान् मधुरचरितैर्भक्तियोगे विधास्यन्
> नानालीलारसरचनयाऽऽनन्दयिष्यन् स्वभक्तान्।
> दैत्यानीकैर्भुवमतिभरां वीतभारां करिष्यन्
> मूर्तानन्दो व्रजपतिगृहे जातवत् प्रादुरासीत् ॥
> (श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पू)

श्रीभगवान्‌के इस प्रकारके अवतार-ग्रहणके तीन प्रधान कारण हैं—(१) अपने मधुर लीलाचरितोंके द्वारा आत्माराम मुनियोंको प्रेमभक्तियोगमें लगाना, (२) विविध लीलारसोंकी रचनाके द्वारा अपने प्रेमी भक्तोंको आनन्दित करना, उनके विशुद्ध प्रेमरसास्वादनके द्वारा सुखी होकर, उन्हें प्रेमरसास्वादन कराके सुखी करना और (३) दुर्दान्त दैत्योंके भीषण भारसे अत्यन्त दबी हुई पृथ्वीका भार उतारना । इन्हीं तीन मुख्य प्रयोजनोंसे आनन्दस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण व्रजनरेश नन्दबाबाके घरमें जन्म लेनेकी भाँति प्रकट हुए।

भगवान् श्रीकृष्णने अपनी लीलामें इन तीनों ही प्रयोजनोंको भलीभाँति सम्पन्न किया । भगवान्‌ने मधुर व्रजलीलामें वात्सल्य-सख्य-मधुर आदि विभिन्न रसवाले प्रेमीजनोंको दिव्य प्रेम-रस-सुधाका आस्वादन कराया और किया। यहाँ बीच-बीचमें ऐश्वर्यभावका ग्रहण करके दैत्योंके प्राण हरणकर उन्हें मुक्ति प्रदान की। मथुरा और द्वारकाकी लीलामें माधुर्य-रसकी अपेक्षा ऐश्वर्यका तथा प्रेमकी अपेक्षा निष्काम कर्म और ज्ञानका परम विशुद्ध अमृत अधिक वितरण किया। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि, ज्ञानी-अमलात्मा परमहंस महात्माओंको आकर्षित करके अपनी विशुद्ध भक्तिमें नियुक्त किया।

श्रीकृष्णचरितमें पूर्ण भगवत्ता और पूर्ण मानवताका सम्मेलन

यह तो हुई स्वयं-भगवान्‌के तत्त्व, महत्त्व और नित्य रस-माधुरीकी बात। पर यों भगवान् श्रीकृष्णके विलक्षण लीलाचरितमें पूर्ण भगवत्ता और पूर्ण मानवताका एक ही साथ परमाश्चर्यमय सम्मेलन है। वे पूर्णतम भगवान् हैं

और पूर्णतम मानव हैं। उनके चरित्रमें जहाँ एक ओर भगवत्ताका अशेष-वैचित्र्यमय लीलाविलास है, दूसरी ओर वैसे ही मानवताका परम और चरम उत्कर्ष है। अनन्त ऐश्वर्यके साथ अनन्त माधुर्य, अप्रतिम अनन्त शौर्य-वीर्यके साथ मुनि-मन-मोहन नित्यनव-निरुपम सौन्दर्य, वज्रवत् न्याय-कठोरताके साथ कुसुमवत् प्रेम-कोमलता, नव-नव-राज्यनिर्माण-कौशलके साथ स्वयं राज्यग्रहणमें सर्वथा उदासीनता, अनवरत कर्म-प्रवणताके साथ सहज पूर्ण वैराग्य और उदासीनता, परम राजनीति-निपुणताके साथ पूर्ण आध्यात्मिकता, सम्पूर्ण विषमताके साथ नित्य समता, सर्वपूज्यताके साथ सेवा-परायणता—यों अनन्त युगपत् आपातविरोधी भावोंका पूर्ण और सहज समन्वय श्रीकृष्णके जीवनमें प्रत्यक्ष प्रकट है।

श्रीकृष्ण सब ओरसे पूर्ण हैं

साथ ही जो लोग भगवान् श्रीकृष्णको भगवान् न मानकर योगेश्वर, आदर्श महापुरुष, उच्चश्रेणीके निष्काम कर्मयोगी मानते हैं, उनके लिये भी भगवान् श्रीकृष्णने अपने आदर्श जीवनमें जो कुछ दिया है, वह इतना महान्, इतना विशाल, इतना उदार, इतना आदर्श, इतना अनुकरणीय है कि उसकी कहीं तुलना नहीं है। हम उनको प्रत्येक क्षेत्रमें सर्वथा सर्वोच्च आसनपर आसीन पाते हैं। अध्यात्म, धर्म, राजनीति, रण-कौशल, विज्ञान, कला, संगीत, नेतृत्व, सेवा, पारिवारिक जीवन, समाज-सुधार—कहीं भी देखिये, वे सर्वत्र, सदा, सबके लिये आदर्श, दिव्य आशाका निश्चित संदेश लिये, सफलता, कुशलता और अनुभूतिसे पूर्ण आचार्य-पदपर प्रतिष्ठित हैं और स्वयं पथप्रदर्शक बनकर—स्वयं ही सुदृढ़ नौकाके केवट बनकर सबको सब प्रकारकी असुविधाओं और बन्धनोंके अगाध समुद्रसे सहज पार कर देनेके लिये नित्य प्रस्तुत हैं।

आज हम इस मङ्गलमयी उनकी जन्मतिथिके मङ्गल-दिवसपर उनके चरण-शरण होकर अपना जन्म-जीवन सफल और धन्य करें।

बोलो नन्द-यशोदा-नन्दन भगवान् श्रीकृष्णकी जय !

नन्दके घर महा-महोत्सव

(राग भैरव, तीन ताल)

नैन भरि देखौ नंदकुमार।
जसुमति कूख चंद्रमा प्रगट्यौ, या ब्रज कौ उजियार॥
बन जिन जाउ आज कोऊ, गोसुत अरु गाय-गुवार।
अपने-अपने भेप सबै मिलि लावौ विविध सिंगार॥
हरद-दूब-अच्छत-दधि-कुमकुम मंडित करौ दुवार।
पूरौ चौक विविध मुक्ताफल, गावौ मंगलचार॥
चहूँ बेद-धुनि करत महामुनि, होत नछत्र-बिचार।
उदयौ पुन्य कौ पुंज साँवरौ, सकल सिद्धि दातार॥
गोकुल-बधू निरखि आनंदित सुंदरता कौ सार।
'दास चतुर्भुज' प्रभु सब सुख निधि गिरिधर प्रान-अधार॥

शरीर-क्षेत्र

[पूज्यपाद योगिराज अनन्तश्री देवरहवा बाबाका उपदेश]

(प्रेषक—श्रीरामकृष्णप्रसादजी एडवोकेट)

हमारे शरीरकी भी महिमा विचित्र है। कितनी शक्तियाँ इसके भीतर निहित हैं, इसका हमें पूर्णतया बोध नहीं होता और न उन शक्तियोंको प्रकट करनेपर हमारा ध्यान ही होता है। लोग तो ऐश-आराममें अपना जीवन व्यतीत करना चाहते हैं, अपने अंदरकी छिपी शक्तियोंको विकसित करनेका साधन करना नहीं चाहते। हमारा कैसा और किसके साथ संसर्ग होता है, इसीपर हमारी शक्तियोंका विकास निर्भर करता है। गुण और दोष एक दूसरेके संसर्गसे होते हैं 'संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति।' यद्यपि इस धरतीमें विभिन्न प्रकारके बीज छिपे हुए रहते हैं, फिर भी जमते वे ही हैं, जिन्हें हम बोते हैं। ठीक यही दशा हमारे शरीरकी भी है।

गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने इस शरीरको 'क्षेत्र' कहा है। क्षेत्रको भाषामें 'खेत' कहते हैं। खेतका मतलब यह है कि जो बीज उसमें हम बोयेंगे, वही जमेगा। और फल पर्याप्त मात्रामें उत्पन्न हो, इसके लिये जैसा खेत बनाया जायगा, जैसी खाद दी जायगी, बीज भी वैसा ही पुष्ट और प्रचुरमात्रामें फल उत्पन्न करेगा। यदि खेत अच्छा नहीं बनाया जायगा और उसमें उचित खाद आदि न दी जायगी तो बीजकी वृद्धि न होगी। ठीक वही दशा हमारे शरीरकी भी है। इस शरीरके साथ जैसा संसर्ग बनाया जायगा, उसका प्रतिफल भी वैसा ही होगा। इसलिये इस बातको सदा स्मरण रखना चाहिये कि जिन-जिन लोगोंसे या जिस प्रकारकी विचार-धारासे हम प्रभावित होंगे, तदनुकूल ही हमारी अन्तर्निहित शक्तियोंका विकास होगा। जमीनमें कोई व्यक्ति घास नहीं बोता; किंतु उचित बोआई और खादके अभावमें जैसे घास-काँटे आदि आप-से-आप उत्पन्न हो जाते हैं, वही दशा हमारे शरीरकी भी समझनी चाहिये।

अच्छे बीज और अच्छे फलके लिये जिस प्रकार अच्छी जोताई और खादकी आवश्यकता है, उसी प्रकार इस शरीरद्वारा उचित गुणोंके विकास और प्रसारके लिये इसमें अच्छा संसर्ग एवं अच्छी साधनाओंकी व्यवस्था होनी चाहिये। इन्हीं सब साधनाओं या व्यवस्थाओंको जो करते हैं, वे 'साधक' कहलाते हैं। साधना क्या है? वह एक तरहकी तालेकी कुंजी है। मान लीजिये, किसी घरमें ताला लगा है। जबतक ताला खोलकर हम अंदर प्रवेश नहीं करेंगे, तबतक उस घरमें क्या रखा है, हम नहीं जान सकते। घरमें प्रवेश करनेके लिये जैसे ताला खोलना आवश्यक है और ताला खोलनेके लिये जैसे कुंजीकी आवश्यकता है, वैसे ही इस शरीरके द्वारा क्या-क्या किया जा सकता है, उसको जाननेके लिये अर्थात् शरीररूपी तालेको खोलनेके लिये साधनारूपी कुंजीकी आवश्यकता है। साधनाद्वारा ही हम इस शरीरकी अन्तर्निहित शक्तियोंका प्रादुर्भाव कर सकते हैं और तब हम समझ सकते हैं कि परमात्माने अपनी कृपाद्वारा इस मानवशरीरमें हमें क्या-क्या प्रदान करके रख छोड़ा है और उसके द्वारा हम इस विश्वसृष्टिमें क्या नहीं कर सकते हैं।

जैसे खेतके विषयमें पूरी जानकारीवाले व्यक्तिको हम 'कृषक' या 'खेतिहर' कहते हैं, वैसे ही इस शरीररूपी क्षेत्रके पूरे जानकारको भगवान् कृष्णने 'क्षेत्रज्ञ' की संज्ञा दी है। इस शरीररूपी क्षेत्रकी महिमाकी पूरी जानकारी ही यथार्थमें ज्ञान है—

> इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
> एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥
> क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
> क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥
>
> (गीता १३। १-२)

भाव इसका यह है कि यह शरीर 'क्षेत्र' है और इसकी विशेषताओंको समझनेवालेको 'क्षेत्रज्ञ' कहा जाता है और यह क्षेत्रज्ञ यानी जीवात्मा भी मेरा ही अंश है और क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका ज्ञान, अर्थात् प्रकृति और पुरुषको जानना तथा समझना ही यथार्थ ज्ञान है—ऐसा भगवान् श्रीकृष्णका मत है। इस शरीरके द्वारा प्रकृति और पुरुषके सम्बन्धको समझ लेना कोई आसान काम नहीं है। यही सबसे कठिन काम है। प्रथम यही विचार करना है कि यह जो शरीर है, वह नाशवान् है और इसके अंदर नित्य निवास करनेवाला

आत्मा अजर और अमर है। इस आत्माका न जन्म होता है और न मृत्यु, अर्थात् उसका कभी नाश भी नहीं होता। यह एक रहस्य है कि इस नित्य रहनेवाले आत्माको यह नाशवान् शरीर क्योंकर प्राप्त हुआ।

यही तो अन्तर है, जिसके कारण हम मनुष्य हैं और वह है परमात्मा। यदि ऐसा अन्तर न होता तो मनुष्य भी परमात्मा ही कहलाता। मनुष्यमें जो जीवात्मा है, वह नित्य है और परमात्मा भी नित्य ही है। इसलिये हममें और परमात्मामें अन्तर कैसा? इस गूढ़ तत्त्वके समझनेके लिये घड़े और आकाशकी उपमा दी जाती है। बाहरका जो आकाश है, वह बृहदाकार आकाश है और घड़ेके अंदर जो आकाशका भाग है, वह बृहदाकार आकाशसे सम्बन्धित है। यदि घड़ा फोड़ दिया जाय तो उसमेंका आकाश जिस प्रकार बृहदाकार आकाशसे जा मिलेगा, उसी प्रकारका सम्बन्ध इस शरीरके आत्मा और परमात्माके साथ है। परमात्मा बृहदाकार आकाशके सदृश है उसीका अंश यह जीवात्मा घड़ेरूप शरीरमें समाया हुआ है। शरीर न छूटता है और न परमात्मासे मिलन होता है। शरीर छूट जाय यानी जन्म-मरणसे छुट्टी हो जाय तो हमारी मुक्ति ही हो जाय, अर्थात् हमारा यथार्थ सम्बन्ध उस परमात्मासे ही हो जाय, जो एक महान् कठिन काम है।

भगवान्ने अपनी लीलासे इस जीवात्माको ऐसा बाँध दिया है कि उससे निकलना इस जीवात्माके लिये अत्यन्त दुष्कर हो गया है। इसी लीलाको कोई 'माया' या कोई-कोई 'प्रकृति'के नामसे पुकारते हैं। परमात्माने हमारे चारों ओर मायाका ऐसा आवरण डाल रखा है कि उससे निकलकर परमात्माके निकटतक पहुँचना इस जीवात्माके लिये असम्भव-सा हो गया है। परमात्मा क्या है, माया या प्रकृति क्या है, जीवात्मा क्या है—इसकी यथार्थता नीचे लिखी घटनासे आप समझ सकेंगे—

एक बारकी बात है, विदेह राजा जनकजीसे मिलनेके लिये श्रीशुकदेवमुनि उनके यहाँ पधारे। जनकजी तो राजा ही ठहरे, उनका विशाल राजभवन, उसके आगे सशस्त्र पहरेदार, फिर भीतर भी पहरेदार—इस प्रकार पहरेदारोंसे राजमहल सुरक्षित था। जब श्रीशुकदेवजी राजमहलके फाटकपर आये, तब नियमानुसार पहरेदारोंने उनका परिचय पूछा और उन्हें वहीं फाटकपर रोक दिया। इस प्रकार श्रीशुकदेवजीको फाटकपर रुके-रुके सात दिन और सात रातें व्यतीत हो गयीं, न तो जनकजीने उन्हें बुलाया और न शुकदेवजी वहाँसे झुँझलाकर वापस गये। जब इस प्रकार श्रीशुकदेवजीके धैर्य, शील एवं स्वभावकी पूरी-पूरी परीक्षा हो गयी, तब आठवें दिन जनकजीने श्रीशुकदेवजीको राजभवनमें प्रवेश करनेकी आज्ञा अपने द्वारपालोंद्वारा भेज दी। इस प्रकार आज्ञा मिलनेपर श्रीशुकदेवजीने महलके अंदर प्रवेश किया। महलके अंदर द्वारसे लेकर जनक-निवासतक अनेकानेक आकर्षक वस्तुओंके प्रदर्शनका आयोजन था। यदि श्रीशुकदेवजी चाहते कि किसी आकर्षक वस्तुको रास्तेमें देख लेते और फिर जनकजीकी ओर आगे बढ़ते तो उसमें किसीको कोई आपत्ति भी नहीं थी, किंतु श्रीशुकदेवजीने न तो कोई आकाङ्क्षा की और न उनके मनमें किसी वस्तुकी कोई लालसा ही थी। वे तो रास्तेकी सारी आकर्षक वस्तुओंकी उपेक्षा करते हुए सीधे जनकजीके स्थानको चलते गये और जनकजीके पास पहुँचनेपर उन्होंने उनका बहुत सम्मान किया। श्रीशुकदेवजीने राजा जनकसे कुछ प्रश्न किये और उनसे कुछ सीखना चाहा तो राजा जनकने कहा कि 'आपके लिये अब क्या सीखना और जानना बाकी रह गया है। जब मेरे समीपतक पहुँचनेमें रास्तेकी कोई भी आकर्षक वस्तु आपको मोहित और प्रभावित नहीं कर सकी तब आपके लिये अब कौन-सा योग शेष रह गया है।' उन्होंने पुनः सम्मानके साथ श्रीशुकदेवजीको विदा कर दिया।

सारांश यह कि परमात्मातक पहुँचनेके लिये इस जीवात्माको अनेकानेक प्रलोभनोंको त्यागना पड़ता है। साधकके लिये मायाके दुस्तर जालको काटना आवश्यक है। तभी यह जीवात्मा परमात्माको प्राप्त करनेमें समर्थ होता है। विरले ही ऐसे व्यक्ति मिलेंगे, जो इस मायाजालसे अपनेको बचा सकें। ऐसा तो केवल योगियोंके लिये ही सम्भव है, जिन्हें ज्ञान-चक्षु प्राप्त हो चुके हैं।

> क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
> भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥
> (गीता १३। ३४)

'इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेद और प्रकृति अर्थात् मायासे छूटनेके उपायको जो पुरुष ज्ञान-नेत्रोंद्वारा तत्त्वसे जानते और समझते हैं, वे ही महात्मा योगी उस परब्रह्म पर-

मात्माको प्राप्त होते हैं।' परमात्माकी प्राप्तिके लिये बहुत त्याग और तपस्याकी आवश्यकता है, जो केवल इस मानव-शरीरसे ही सम्भव है। अतएव इसकी महत्ताको समझते हुए मानव-शरीरकी सुरक्षापर भी हमें विशेष ध्यान देना चाहिये। अपने इस शरीरको आमोद-प्रमोद और विलासितामें नष्ट नहीं करना चाहिये। परमात्माने बड़ी कृपा करके ही हमें यह शरीर दिया है और इसका उद्देश्य क्या है, इसपर हमें विचारते रहना चाहिये। इसी बातकी चेतावनी संत तुलसीदासने अपने मानस-रामायणमें दी है—

बड़ें भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा॥
(७।४२।४)

अतएव हर एक व्यक्तिको अपने शरीरकी उपयोगिता और महत्ताको समझते हुए इसमेंकी निहित शक्तियोंको अच्छे संसर्गद्वारा विकसित करना चाहिये, ताकि यह जीवात्मा मायाके आवरणको हटाकर भगवान्‌की प्राप्तिके मार्गपर अग्रसर हो सके।

एक महात्माका प्रसाद

परिस्थितिका सदुपयोग

प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है। उसके सदुपयोग-में ही सभीका हित है। किंतु हमसे भूल यह होती है कि हम परिस्थिति-परिवर्तनके लिये अथवा अनुकूल परिस्थितिको सुरक्षित बनाये रखनेके लिये प्रयत्नशील रहते हैं, यद्यपि कोई भी परिस्थिति सर्वांशमें अनुकूल नहीं होती और न सर्वांशमें प्रतिकूल ही होती है। प्रत्येक परिस्थितिमें जो करना चाहिये, उसको करनेकी सामर्थ्य हममें विद्यमान होती है और जो नहीं करना चाहिये, उसके त्यागकी सामर्थ्य भी रहती है। परंतु हम इस बातको भूल जाते हैं कि प्रस्तुत परिस्थितिमें क्या करना चाहिये। जो करते रहते हैं, बस, उसीको पकड़े रहते हैं; नहीं तो 'यह करना ही है', परंतु कर पाते नहीं और फिर पश्चात्ताप करते हैं। ऐसी परिस्थितिमें एक बातका निर्णय करना है—और वह हरेक व्यक्तिको अपने-आप करना है, दूसरेके द्वारा नहीं—कि कोई भी परिस्थिति क्या ऐसी हो सकती है, जिसके बिना हम रह नहीं सकते ? यदि आपको लगे कि सचमुच कोई ऐसी परिस्थिति हो सकती है, तो सोचिये कि उस परिस्थितिका वियोग तो नहीं होगा ? पर वियोग होता ही है। जब वियोग होता है, तब कोई परिस्थिति ऐसी हो ही नहीं सकती, जिसके बिना हम नहीं रह सकते हों।

यदि कोई मुझसे यह पूछता कि 'भाई! तुम आँखोंके बिना रह सकते हो ?' तो क्या मैं कभी यह माननेके लिये राजी होता कि मैं आँखोंके बिना रह सकता हूँ ? किंतु देखिये, आँखोंके बिना रह रहा हूँ। उसी प्रकार हमलोग सदैव इस बातका ध्यान रखें कि कोई परिस्थिति सचमुच ऐसी है ही नहीं, जिसके बिना हम नहीं रह सकते, या जो हमारे बिना नहीं रह सकती, हर परिस्थिति हमारे बिना रह सकती है और हर परिस्थितिके बिना हम रह सकते हैं। लेकिन जब 'परिस्थितिमें ही जीवन है'—ऐसा विश्वास होता है, तब प्रतिकूल परिस्थितिका भय पैदा हो जाता है और अनुकूल परिस्थितिकी आशा उत्पन्न हो जाती है। हम चाहते हैं कि अनुकूल परिस्थिति बनी रहे और प्रतिकूल परिस्थिति न आये। यदि परिस्थिति स्वभावसे सदैव रहनेवाली होती, तब तो आप यह कह सकते थे कि आपकी बात ठीक है। आप कहेंगे कि 'कोई-न-कोई परिस्थिति तो रही ही है' तो जो परिस्थिति रहती है, उसमें हमें क्या करना है—इस बातको अपने सामने रखना चाहिये वह चाहे जैसी भी परिस्थिति हो। जो शक्ति आप परिस्थितिको परिवर्तन करनेके लिये लगाते हैं, यदि वही शक्ति आप परिस्थितिके सदुपयोगमें लगा दें तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक परिस्थितियोंसे अतीत जो जीवन है, उसमें या तो श्रद्धा हो जाय या उसकी प्राप्ति हो जाय। दोनों ही बातें हो सकती हैं। श्रद्धा हो जायगी तो एक नवीन लालसा जाग्रत् होगी, एक नवीन जिज्ञासा जाग्रत् होगी; और अनुभूति हो जायगी, तब यथेष्ट विश्राम मिलेगा। और ये ही दो बातें जीवनमें उपयोगी हैं—या तो आपको विश्राम मिल जाय या आपके जीवनमें एक ऐसी उत्कट लालसा जग जाय, जो सभी कामनाओंको खा जाय और सभी आक्रमणोंपर विजयी हो जाय।

लालसामें बड़ी भारी सामर्थ्य है और विश्राममें भी बड़ी भारी सामर्थ्य है । ये दोनों बातें जीवनके लिये इतनी उपयोगी हैं कि कोई भी परिस्थिति इनकी तुलना नहीं कर सकती, समानता नहीं कर सकती । किसी भी परिस्थितिमें न उतना रस है और न उतनी सामर्थ्य है । जिस समय आपके जीवनमें कोई लालसा होती है, उस समय आपके जीवनमें अन्य कोई कामनाएँ नहीं रह सकतीं । लालसाका पहला काम है—कामनाओंको खा जाना, और जब कामनाएँ नहीं रहतीं, तब परिस्थितिसे सम्बन्ध नहीं रहता । लालसाकी जागृतिमात्रसे परिस्थितिसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है ! बताइये, इसमें कौन-सी पराधीनता है ? थोड़ी देरके लिये मान लीजिये कि हमें जिस जीवनकी लालसा है या जिसकी लालसा है; वह हमें न भी प्राप्त हो, और कभी भी प्राप्त न हो । ऐसा भी यदि मान लें और लालसा उत्तरोत्तर बढ़ती रहे, तो क्या उसमें कोई हानि होगी ? कोई हानि नहीं होगी; क्योंकि जिसका मिलन रसरूप है, उसकी स्मृति उससे भी अधिक रसरूप है । जिसका मिलन रसरूप होता है, उसकी स्मृति कभी नीरस नहीं होती और स्मृतिमें कोई पराधीनता नहीं है । वस्तु मिलनेमें आप पराधीन हो सकते हैं, लेकिन किसीकी यादमें भी क्या कोई पराधीन हो सकता है ? इसमें कोई भी पराधीन नहीं है । अगर आपको स्मृति प्रिय नहीं है और आप सोचें कि यह तो बड़ी वेदना देती है, हमें स्मृति नहीं चाहिये, तो भैया, स्मृतिमें तो कोई पराधीनता है नहीं । दो ही बातें तो जीवनमें हो सकती हैं—या तो आप सबसे अलग हो जायँ, या किसी एक लालसामें आबद्ध हो जायँ । इसमें क्या कठिनाई है कि कोई एक ही लालसा जीवनमें हो अथवा कोई भी लालसा जीवनमें न हो ? लेकिन कठिनाई यह है कि हम एक ओर तो यह सोचते हैं कि हमारे जीवनमें एक क्रान्ति हो, एक लालसा हो, एक जिज्ञासा हो; और दूसरी ओर यह भी सोचते हैं कि जो कामनाएँ हैं, वे भी पूरी हो जायँ, यानी कामना-पूर्ति भी हो, लालसाकी जागृति भी हो और विश्राम भी मिले । हम तीनों बातें चाहते हैं । इसका परिणाम यह होता है कि कामनाकी अपूर्तिका जो भय है, वह आपको, हमको क्षोभित कर देता है और क्षोभित होनेका परिणाम यह होता है कि जो सामर्थ्य प्राप्त थी, उसका तो सदुपयोग नहीं होता और जो सामर्थ्य प्राप्त होनेवाली थी, उसका विकास रुक जाता है, अर्थात् अप्राप्त प्राप्त नहीं होता और प्राप्तका सदुपयोग नहीं होता । जीवनकी यह दशा सबसे भयंकर दशा है और इसीसे वञ्चना है, अन्य किसी दशासे नहीं ।

जो भी सामर्थ्य आपको प्राप्त है, जो भी योग्यता आपको प्राप्त है, आप उसको परिस्थितिके अनुसार प्रयोग कीजिये । यदि सदुपयोग नहीं कर सकते तो उस सामर्थ्यको लेकर ही क्या करेंगे ? आप कहेंगे कि 'हममें तो कोई सामर्थ्य है ही नहीं ।' ऐसा कोई व्यक्ति है ही नहीं, जिसमें कोई भी सामर्थ्य न हो । जिसको हम 'असमर्थता' कहते हैं, वह आंशिक सामर्थ्यका ही नाम है, सामर्थ्यके अभावका नाम नहीं । आंशिक सामर्थ्यके सदुपयोगसे आवश्यक सामर्थ्य अपने-आप आती है । जब आंशिक सामर्थ्यके सदुपयोगसे आवश्यक सामर्थ्य आती है, तब फिर जीवनमें चिन्ता और भयका कौन-सा स्थान है ? तो कहना होगा कि चिन्ता और भयका ही यह परिणाम होता है कि जो सामर्थ्य हमको प्राप्त है, उसका तो हम सदुपयोग नहीं कर पाते और अप्राप्त सामर्थ्यका चिन्तन करने लगते हैं । उदाहरणके लिये, कल्पना करो कि जो भोजन प्राप्त है, उसे तो हम पचा न पायें और अप्राप्त भोजनका चिन्तन करें कि यह और होता, यह और होता । इसीके दुष्परिणामस्वरूप अप्राप्तका चिन्तन और प्राप्तका दुरुपयोग होने लगता है और हमारा चित्त अशुद्ध हो जाता है । करना यह है कि प्राप्तका तो सदुपयोग हो और अप्राप्तके चिन्तनसे हम मुक्त रहें ।

जब हम अप्राप्तके चिन्तनसे रहित रहेंगे, तब विश्राम मिलेगा । और विश्रामसे या तो हमें आवश्यक सामर्थ्य मिल जायगी या जो मिलना चाहिये वह मिल जायगा; क्योंकि विश्राम मात्रसे भी लक्ष्यकी प्राप्ति हो सकती है । ऐसी बात नहीं है कि श्रमसे ही लक्ष्यकी प्राप्ति हो । श्रम तो प्राप्त सामर्थ्यके सदुपयोगके लिये अपेक्षित है, लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये कोई श्रम अपेक्षित नहीं है । जो सामर्थ्य हमें प्राप्त है, उसका सद्व्यय हम कैसे करें, जो वस्तु हमें प्राप्त है, उसका सद्व्यय कैसे करें, और जो योग्यता हमें प्राप्त है, उसका सद्व्यय हम कैसे करें ? इसके लिये श्रम अपेक्षित है । लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये श्रम अपेक्षित नहीं है । अब आप सोचिये कि जब श्रम-रहित जीवनसे हमें लक्ष्य प्राप्त हो सकता है, तब भी हम लक्ष्यसे निराश रहें, इससे बढ़कर और असावधानी क्या हो सकती है ? यह जो हमलोगोंको चिन्ता दिन-रात सताती रहती है कि यह नहीं हुआ और यह नहीं

किया, और यह नहीं कर पाये और यह करेंगे, यह चिन्ता केवल अपनेको शक्तिहीन बनानेमें ही हेतु है। इससे और कोई लाभ नहीं होता। इसलिये जैसी परिस्थिति आपके सामने है, उस परिस्थितिका हृदयसे आदर करो, भयभीत मत हो जाओ। यह सोचो कि यह परिस्थिति क्यों आयी, इस परिस्थितिका क्या कारण है ?

हाँ, प्रतिकूल परिस्थितिका कारण है—विलास। कोई भी प्रतिकूल परिस्थिति ऐसी नहीं होती, जिसके मूलमें विलास न हो। उदाहरणके रूपमें ले लीजिये कि मेरा पेट खराब हो गया। अगर खानेमें मेरी आसक्ति न हो तो कभी पेट खराब नहीं होगा। किंतु हम सोचते यह हैं कि भोजन करनेका जो सुख है, वह सुरक्षित बना रहे, सदैव सुरक्षित बना रहे। भूख हो या न हो, लेकिन भोजनका सुख सुरक्षित रहे। अब आप सोचिये कि क्या यही जीवन है ? तब तो बड़ी गम्भीरतासे यह कहेंगे कि भाई, भूख लगती है, इसलिये भोजन करना पड़ता है। यदि भूख न लगे तो भोजनकी कोई आवश्यकता नहीं है; क्योंकि भोजन होता है दस मिनटमें। उसके बाद तो आप कई घंटे बिना खाये रहते ही हैं। यदि भोजन करनेमें ही सुख था तो उसके बादमें छः घंटे आपको कैसे सुख रहा ? मान लीजिये, आप दिन-रातमेंसे एक घंटा खानेमें लगाते हैं तो तेईस घंटे आप कैसे रहते हैं ? आपको मानना ही पड़ेगा कि तेईस घंटेका जो समय बिना खाये निकलता है, क्या उसमें कोई जीवन नहीं है ? उसी प्रकार हम प्रत्येक प्रवृत्तिके विषयमें देखें कि जितनी देर कोई प्रवृत्ति होती है, उससे अधिक समय तो विश्राममें ही जाता है, यानी निवृत्ति रहती है। तो सोचिये, निवृत्ति-कालमें जीवन है या नहीं ? यदि निवृत्ति-कालमें जीवन है, तो आपको मानना ही पड़ेगा कि विश्राममें भी जीवन है। परंतु कितने दुःखकी बात है कि विश्राम हमारे लिये दुर्लभ हो गया।

यदि श्रम न करें और विश्राम भी न करें तो करें क्या ? या तो चिन्ता करें या भयभीत रहें या गलत काम करें। और फिर सोचें बड़ी-बड़ी बातें ! आस्तिकवादी सोचें कि हमें प्रभुप्राप्ति नहीं हुई, भौतिकवादी सोचें कि हमको शान्ति नहीं मिली, अध्यात्मवादी सोचें कि हमें स्वरूपका बोध नहीं हुआ !! यदि स्वरूपका बोध आपका जीवन है, चिरशान्ति यदि आपका जीवन है और भगवत्प्राप्ति यदि आपका जीवन है तो फिर आप बताइये, परिस्थिति आपका जीवन कैसे हो सकती है ? जब परिस्थिति आपका जीवन नहीं हो सकती तो चाहे जैसी परिस्थिति हो, उसके अनुसार जो करना है, उसे कर डालना है। इसके अतिरिक्त परिस्थिति-का कोई महत्त्व नहीं है।

आज सब मेरा तुम्हारा हो गया

(रचयिता—श्रीरामनाथजी सुमन)

चेतना थककर तुम्हीं में सो गयी,
बूँद सागर-गर्भ में है खो गयी।
शब्द-स्वर सब मौन में है बह गया,
कुछ न मेरा था, न मेरा रह गया।
मैं तुम्हारा था, तुम्हारा हो गया,
सब अहम् मेरा तुम्हीं में खो गया।
तुम कहाँ हो, मैं कहाँ हूँ, क्या पता,
द्वैत का परदा हुआ है लापता।
एकता का बीज कोई बो गया,
आज सब मेरा तुम्हारा हो गया॥

गीताका भक्तियोग—१४

(स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजद्वारा की गयी गीताके बारहवें अध्यायकी आनुपूर्वी विस्तृत व्याख्या)

[गताङ्क पृ० १०१४ से आगे]

सम्बन्ध

पूर्वके सात श्लोकोंमें सिद्धभक्तोंके ३९ लक्षण बतलानेके बाद जिन साधकोंको लेकर पहले श्लोकमें अर्जुनने प्रश्न किया था, उस प्रश्नका उत्तर देते हुए भगवान् साधकोंकी बात कहकर उस प्रसङ्गका यहाँ उपसंहार करते हैं—

श्लोक

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥२०॥

भावार्थ—

१३वें श्लोकसे १९वें श्लोकतक सात श्लोकोंमें भगवान्ने सिद्धभक्तोंके लक्षणोंका समूहरूपी जो धर्ममय अमृतरूप उपदेशवाणी कही, उसे जिस प्रकार भगवान्ने कहा है, ठीक उसी प्रकार श्रद्धापूर्वक मेरे परायण होकर अपनेमें उतारनेकी जो चेष्टा करते हैं, भगवान् कहते हैं, ऐसे साधक-भक्त मुझे अत्यन्त प्यारे हैं; क्योंकि मेरा साक्षात् अनुभव हुए बिना भी वे मुझपर प्रत्यक्षकी भाँति विश्वास करके साधन करते हैं। उनकी दृष्टिमें सांसारिक धन-मान-बड़ाई आदिका कोई महत्त्व नहीं है।

अन्वय

तु, ये, मत्परमाः, श्रद्दधानाः, इदम्, यथोक्तम्, धर्म्यामृतम्, पर्युपासते, ते, भक्ताः, मे, अतीव, प्रियाः ॥२०॥

तु—और। इस 'तु' पदका गीतामें प्रकरणको अलग करनेके लिये प्रयोग किया गया है। यहाँ सिद्धभक्तोंसे साधकोंके प्रकरणको अलग करनेके लिये 'तु' पदका प्रयोग हुआ है।

ये—जो। इस पदसे भगवान्ने उन साधक-भक्तोंका निर्देश किया है, जिन साधकोंके विषयमें अर्जुनने पहले श्लोकमें प्रश्न किया था। उसी प्रश्नके उत्तरमें अध्यायके दूसरे श्लोकमें सगुणकी उपासना करनेवाले साधकोंको भगवान्ने अपने मतमें 'युक्ततम' बतलाया। फिर उसी (सगुण-उपासना)का साधन बतलाया; तत्पश्चात् सिद्धभक्तोंके लक्षण बतलाकर अब उसी प्रसङ्गका उपसंहार करते हैं।

१३वें श्लोकसे १९वें श्लोकतक सिद्धभक्तोंके लक्षणोंका वर्णन हुआ। यहाँ 'ये' पद परम श्रद्धालु भगवत्परायण साधकोंके लिये आया है, जो उन लक्षणों-को आदर्श मानकर साधन करते हैं और जिनको भगवान्ने इसी श्लोकमें अपना 'अत्यन्त प्यारा' कहा है।

मत्परमाः—मेरे परायण हुए, अर्थात् वे साधक, जिनकी दृष्टिमें भगवान् ही परमोत्कृष्ट हैं। साधक-भक्त सिद्धभक्तों-को अत्यन्त पूज्यभाव और सम्मान्य दृष्टिसे देखता है। उसकी उनके गुणोंमें श्रेष्ठ बुद्धि है; किंतु प्रापणीय तत्त्व उसके लिये भगवान् है न कि गुण। गुण तो भगवान्के सम्बन्धसे स्वतः आ जाते हैं; क्योंकि सारे-के-सारे गुण भगवान्के ही हैं। अतः वे परमात्माके ही परायण होते हैं।

श्रद्दधानाः—श्रद्धायुक्त पुरुष। सिद्धभक्तोंको भगवत्प्राप्ति हुई रहनेसे उनके लक्षणोंमें श्रद्धाकी बात नहीं आती। जबतक तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होती, तभीतक श्रद्धा आवश्यक है। अतः यह पद 'श्रद्धालु साधकभक्तोंका' ही वाचक है। ऐसे श्रद्धालु साधक-भक्त भगवान्के परायण होकर ऊपर दिये गये भगवान्के धर्मयुक्त अमृतरूप उपदेशको अपनेमें उतारनेकी चेष्टा किया करते हैं।

सभी मार्गोंके साधकोंमें विवेककी बड़ी आवश्यकता है। विवेक होनेसे ही साधनमें तीव्रता आती है। यद्यपि यह बात ठीक है कि भक्तिके साधनमें श्रद्धा और प्रेमकी मुख्यता है और ज्ञानके साधनमें विवेककी, तथापि इसका यह अभिप्राय नहीं कि भक्तिमार्गके साधनमें विवेककी आवश्यकता ही नहीं है, अथवा ज्ञानमार्गके साधनमें श्रद्धाकी और भक्ति मार्गके साधनमें श्रद्धा और विवेक, दोनों ही सहायक हैं। यहाँ 'श्रद्दधानाः' पद भक्तिमार्गके साधकोंके लिये आया है।

इदम्—इस।

यथा उक्तम् धर्म्यामृतम्—ऊपर कहे हुए धर्ममय अमृतको। १३वेंसे १९वें श्लोकतक सिद्धभक्तोंके ३९ लक्षणोंका समुदाय धर्ममय है, धर्मसे ओत-प्रोत है। उसमें अधर्मका किंचित् भी अंश नहीं है।

जिस साधनमें साधन-विरोधी अंश सर्वथा नहीं होता, वह साधन अमृततुल्य होता है। जिसमें साधन-विरोधी अंश रहता है, वह साधन अमृत नहीं है। ऊपर कहे हुए साधन-समुदायमें साधन-विरोधी कोई बात न होनेसे इसे 'धर्म्यामृतम्' संज्ञा दी गयी है।

साधनमें साधन-विरोधी कोई भी बात न होते हुए, जैसा ऊपर कहा गया है, ठीक वैसा-का-वैसा ही धर्ममय अमृतका सेवन तभी होगा, जब साधकका उद्देश्य आंशिक रूपसे भी धन, मान, बड़ाई, आदर, सत्कार, संग्रह और सुख-भोगादि न होकर एकमात्र भगवत्प्राप्ति ही होगा।

'धर्म्यामृतम्' के जो लक्षण बतलाये गये हैं—जैसे अद्वेष्टा, मैत्रः, करुणः आदि, वे आंशिक रूपसे साधकमात्रमें रहते हैं तथा इनके साथ-साथ दुर्गुण-दुराचार भी रहते हैं। साधक सत्सङ्ग करता है तथा साथमें कुसङ्ग भी होता रहता है; वह संयम करता है, किंतु साथ-ही-साथ रागपूर्वक सांसारिक भोग भी भोगता रहता है। साधकोंमें इस प्रकार गुण-अवगुण दोनों साथ रहते हैं। जबतक गुणोंके साथ अवगुण रहेंगे, तबतक सिद्धि नहीं होगी। अवगुण साथमें रहनेसे गुणोंका अभिमान-रूपी बड़ा अवगुण भी साथ रहता है। वास्तवमें गुण सर्वथा दोषरहित होने चाहिये। इसीलिये 'धर्म्यामृतम्'-का सेवन करनेके लिये यह कहा गया है कि इसका ठीक वैसा-का-वैसा पालन होना चाहिये, जैसा कि वर्णन किया गया है। यदि 'धर्म्यामृतम्' के सेवनमें आंशिक रूपसे भी दोष रहेंगे तो तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होगी। साधकको विशेष सावधान रहना चाहिये कि दुर्गुण-दुराचार उसमें आंशिक रूपसे भी न रहें। यदि साधनमें किसी कारणको लेकर आंशिक रूपसे कोई दोषमय वृत्ति उत्पन्न हो जाय तो उसकी अवहेलना न करके तत्परतासे उसे हटानेकी चेष्टा करनी चाहिये।

जितने सद्गुण-सदाचार-सद्भाव आदि हैं, वे सब-के-सब सत् (परमात्मा) पर अवलम्बित हैं। दुर्गुण-दुराचार-दुर्भाव आदि सब असत्‌के सम्बन्धसे ही होते हैं। एक ओर दुराचारी-से-दुराचारी पुरुषमें भी सद्गुण-सदाचारोंका सर्वथा अभाव नहीं होता; क्योंकि जीव नित्य है और परमात्माका अंश है। उसका 'सत्' (परमात्मा) से सदासे सम्बन्ध है और सदा ही रहेगा। और परमात्माके साथ सम्बन्ध रहनेके कारण किसी-न-किसी अंशमें उसमें सद्गुण-सदाचार रहेंगे ही। दूसरी ओर सत् (परमात्मा) की प्राप्ति होनेपर असत्‌के साथ सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेके कारण दुर्गुण-दुराचार-दुर्भाव आदि कभी नहीं रह सकते।

सद्गुण भागवत-सम्पत्ति हैं। इसलिये साधक जितना-जितना भगवान्‌के सम्मुख होता जायगा, उतने अंशमें उसमें सद्गुण-सदाचार-सद्भाव आते जायँगे एवं दुर्गुण-दुराचार-दुर्भाव नष्ट होते जायँगे।

यह एक विवादग्रस्त विषय है कि सिद्ध-महापुरुषमें भी प्रारब्धवश राग-द्वेष एवं काम-क्रोधादि रह सकते हैं। इन दोषोंको कई विद्वान् अन्तःकरणके धर्म मानते हैं। पर सिद्ध महापुरुषोंके अन्तःकरणमें राग-द्वेष, काम-

क्रोधकी सत्ता स्वीकार करना सर्वथा शास्त्र-विरुद्ध, न्याय-विरुद्ध और गलत है। राग-द्वेष, काम-क्रोधादिको अन्तःकरणके धर्म मानना भूल है। ये अन्तःकरणके धर्म नहीं, विकार हैं। गीताजीमें भी तेरहवें अध्यायके ६ ठे श्लोकमें 'इच्छा द्वेषः' पदसे राग-द्वेषादिको क्षेत्रका विकार बताया गया है।

धर्म स्वभावगत होते हैं और नित्य रहते हैं, जब कि विकार नाशवान् हैं और घटते-बढ़ते रहते हैं। जितने अंशमें अन्तःकरणमें विकार विद्यमान हैं, उतने अंशमें वह साधक है, सिद्ध नहीं। साधक भी जितना-जितना परमात्माकी ओर अग्रसर होता है, उतनी-उतनी दूरतक उसके राग-द्वेष, काम-क्रोधादि विकार मिटते जाते हैं एवं शेष सीमातक पहुँचनेपर उन विकारोंका अत्यन्ताभाव हो जाता है। यदि राग-द्वेषादि विकार अन्तःकरणके धर्म होते तो फिर जबतक अन्तःकरण है, तबतक राग-द्वेषादि विकार रहने ही चाहिये। किंतु जब इन विकारोंका साधकोंमें भी नाश होता चला जाता है, तब फिर ये अन्तःकरणके धर्म कैसे हो सकते हैं?

गीताजीमें स्थान-स्थानपर—जैसे दूसरे अध्यायके ६४ वें श्लोकमें 'रागद्वेषवियुक्तैस्तु' पदसे एवं अठारहवें अध्यायके ५१वें श्लोकमें 'रागद्वेषौ व्युदस्य च' पदोंसे भगवान्‌ने साधकोंको इन राग-द्वेषादि विकारोंसे सर्वथा मुक्त होनेके लिये आदेश दिया है। यदि ये अन्तःकरणके धर्म होते तो इनका त्याग असम्भव होता। असम्भव बातको करनेके लिये भगवान् आदेश कैसे दे सकते हैं।

गीताजीमें सिद्ध महापुरुषोंको राग-द्वेष, काम-क्रोधादि विकारोंसे मुक्त बताया गया है—जैसे इसी अध्यायके १५ वें श्लोकमें 'हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तः' पदसे भक्तको भगवान्‌ने राग-द्वेष एवं हर्ष-शोकसे मुक्त बताया है। इसलिये भी ये विकार ही सिद्ध होते हैं। असत्‌से सर्वथा विमुख होनेके कारण उन सिद्धमहापुरुषोंमें ये विकार लेशमात्र भी नहीं रहते।

जिसमें लेशमात्र भी ये विकार नहीं हैं, ऐसे सिद्ध महापुरुषके अन्तःकरणके लक्षणोंको आदर्श मानकर सेवन करनेके लिये भगवान्‌ने उन लक्षणोंको यहाँ 'धर्म्यामृतम्' के नामसे कहा है।

दूसरे अध्यायके ३१वें श्लोकमें 'धर्म्यात्' पद और ३३वें श्लोकमें 'धर्म्यम्' पद धर्ममय युद्धके लिये प्रयुक्त हुआ है।

नवें अध्यायके २रे श्लोकमें 'धर्म्यम्' पदसे ज्ञान-विज्ञानको धर्ममय बताया गया है।

अठारहवें अध्यायके ७०वें श्लोकमें 'धर्म्यम्' पदसे भगवान् और अर्जुनके गीताजीमें कहे हुए संवादको धर्ममय कहा गया है।

नवें अध्यायके १९वें श्लोकमें 'अमृतम्' पदसे भगवान्‌ने अमृतको अपनी विभूति बताया है।

दसवें अध्यायके १८वें श्लोकमें 'अमृतम्' पदसे अर्जुनने भगवान्‌के वचनोंको अमृतमय बताया है।

तेरहवें अध्यायके १२वें श्लोकमें और चौदहवें अध्यायके २०वें श्लोकमें 'अमृतम्' पद परमानन्दका वाचक है।

चौदहवें अध्यायके २७ वें श्लोकमें 'अमृतस्य' पद भगवत्स्वरूपका वाचक है।

पर्युपासते—सेवन करते हैं। पूर्वके सात श्लोकोंमें 'धर्म्यामृतम्' का जिस रूपमें वर्णन किया गया है, ठीक उसी रूपमें श्रद्धासे युक्त होकर साङ्गोपाङ्ग सेवन करनेके अर्थमें यहाँ 'पर्युपासते' पद प्रयुक्त हुआ है। साङ्गोपाङ्ग सेवनका तात्पर्य यही है कि साधकमें अवगुण किंचिन्मात्र भी नहीं रहने चाहिये। उदाहरणके लिये करुणाका भाव सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति चाहे पूर्णरूपसे न हो, किंतु किसी भी प्राणीके प्रति अकरुणा अर्थात् निर्दयताका भाव यत्किंचित् भी नहीं रहना चाहिये। साधकोंमें ये लक्षण साङ्गोपाङ्ग नहीं होते। इसलिये उन्हें इनका सेवन करनेके लिये कहा गया

है । साङ्गोपाङ्ग लक्षण होनेपर वे सिद्धकोटिमें आ जायँगे ।

साधकमें चटपटी, तीव्र इच्छा, व्याकुलता और प्राप्तिके लिये उत्कण्ठा आदि होनेसे उसका साधन अपने-आप होता है । इस प्रकार साधन होनेपर भगवत्प्राप्ति बहुत शीघ्रता और सुगमतासे हो जाती है ।

ते—वे ।

भक्ताः—भक्त। भक्तिमार्गपर चलनेवाले साधकोंके लिये यहाँ 'भक्ताः' पद प्रयुक्त हुआ है । भगवान्‌ने ग्यारहवें अध्यायके ५३ वें श्लोकमें अपना दर्शन दुर्लभ बतलाकर, ५४ वें श्लोकमें अनन्यभक्तिसे अपना दर्शन सम्भव बतलाया एवं ५५वें श्लोकमें अनन्यभक्तिके स्वरूपका वर्णन किया । इसपर इसी अध्यायके पहले श्लोकमें उस अनन्यभक्तिका उद्देश्य रखनेवाले साधकोंकी उपासना कैसी होती है—इसके सम्बन्धमें अर्जुनने प्रश्न किया । उक्त प्रश्नके उत्तरमें भगवान्‌ने दूसरे श्लोकमें उन्हीं साधकोंको श्रेष्ठ बतलाया है, जो भगवान्‌में मन लगाकर अत्यन्त श्रद्धापूर्वक उनकी उपासना करते हैं । उन्हीं साधकोंका वर्णन यहाँ 'भक्ताः' पदसे हुआ है ।

मे अतीव प्रियाः—मुझे अतिशय प्रिय हैं ।

जिन साधकोंको २रे श्लोकमें 'युक्ततमाः' कहा गया है, छठे अध्यायके ४७वें श्लोकमें जिनके समुदाय-को 'युक्ततमः' बताया गया है, उन्हीं साधकोंको यहाँ भगवान्‌ने अपना अत्यन्त प्यारा बतलाया है । अत्यन्त प्यारा बतलानेमें हेतु निम्नाङ्कित हैं—

(१) सिद्धभक्तोंको तो तत्त्वका अनुभव अर्थात् भगवत्-साक्षात्कार हो गया रहता है, किंतु साधक-भक्तोंको भगवत्साक्षात्कार न होनेपर भी वे श्रद्धापूर्वक भगवान्‌के परायण होते हैं । इसीलिये भगवान् कहते हैं कि 'मुझपर ही श्रद्धा-विश्वास करनेवाले होनेके कारण वे मुझे अत्यन्त प्यारे हैं ।'

(२) सिद्धभक्त तो भगवान्‌के बड़े लड़केकी तरह हैं—

'मोरे प्रौढ़ तनय सम ग्यानी ।'

(रा० च० मा०, ३ । ४२ । ४)

जब कि साधक भक्त भगवान्‌के छोटे लड़केकी तरह हैं—

'बालक सुत सम दास अमानी ॥'

(वही, ३ । ४२ । ४)

छोटा बालक स्वतः ही सबको प्यारा लगता है । इसीलिये भगवान् कहते हैं कि वे 'मुझे अतिशय प्यारे हैं ।'

(३) भगवान् कहते हैं कि 'सिद्धभक्तको तो दर्शन देकर मैं उऋण हो गया रहता हूँ, किंतु साधक-भक्त तो अभी साधन करते हैं, सरल विश्वाससे मुझपर निर्भर हैं । अतः अपनी प्राप्ति न करानेके कारण उनसे अभीतक मैं उऋण नहीं हुआ हूँ । इसलिये भी वे मुझे अत्यन्त प्यारे हैं ।'

(४) पूर्वोद्धृत सात श्लोकोंके अन्तर्गत पाँच प्रकरणों-में सिद्धभक्तोंके लक्षण बतलाकर—प्रत्येक प्रकरणके पूर्ण लक्षण जिसमें विद्यमान हैं, उस भक्तको उस प्रकरणके अन्तमें भगवान्‌ने अपना प्यारा बतलाया, किंतु साधक-भक्त तो उन पाँचों प्रकरणोंमें आये हुए लक्षणोंका अनुष्ठान करता है । इसलिये भगवान् कहते हैं कि 'वे मुझे अतिशय प्यारे हैं' ॥ २० ॥

(१) बारहवें अध्यायमें कुल पद २४४ हैं, पुष्पिकामें १३ हैं और 'उवाच' आदिमें कुल ४ पद हैं । पदोंका पूर्णयोग २६१ है ।

(२) बारहवें अध्यायके श्लोकोंमें कुल ६४० अक्षर हैं, पुष्पिकामें ४५, 'उवाच' आदिमें १३ एवं 'अथ द्वादशोऽध्यायः'के कुल ७ अक्षर हैं । सम्पूर्ण अक्षरोंका योग ७०५ है । इस अध्यायमें सभी श्लोक ३२ अक्षरोंके हैं ।

(३) बारहवें अध्यायमें दो 'उवाच' हैं—

(१) 'अर्जुन उवाच' और

(२) 'श्रीभगवानुवाच' ।

(समाप्त)

श्रीअरविन्द-शताब्दीके मङ्गल-संदर्भमें

श्रीअरविन्दका जीवन-दर्शन

(लेखक—श्रीरामलाल)

श्रीअरविन्दकी आध्यात्मिकताका अप्रतिम योगदान है समस्त चेतनको भागवत ज्योतिसे परिपूर्ण कर देनेकी साधना। श्रीअरविन्द निस्संदेह महायोगी थे; वे हठयोगी, लययोगी और राजयोगी—सब कुछ एक ही साथ थे। उन्होंने अन्तरात्माके शाश्वत प्रकाशमें—भागवत ज्योतिमें जागतिक अन्धकारका विनाश कर चराचरको दिव्य, दिव्यतर और दिव्यतम बनानेकी साधना की। महायोगी अरविन्द मानवताके अमर दिव्य दूत थे; उन्होंने विश्वके प्राणियोंको शाश्वत आत्मचैतन्य—सम्पूर्ण दिव्य परात्पर ज्ञान और भागवत प्रेम प्रदान किया।

श्रीअरविन्दका जीवन-चरित्र लिखना कठिन काम है, उनका जीवन आध्यात्मिक साधनाके क्षेत्रमें समग्ररूपसे अन्तर्मुखी था। श्रीअरविन्दकी एक स्थलपर उक्ति है—'मेरा जीवन ऊपरी तलपर नहीं रहा है कि मनुष्य इसे देख सके।' निस्संदेह श्रीअरविन्दका जीवन रहस्यपूर्ण है।

श्रीअरविन्दका सम्पूर्ण जीवन तीन भागोंमें विभाजित किया जा सकता है। पहले भागमें उनके जन्म, शिक्षा-दीक्षा तथा पांडिचेरी आनेके पहलेकी समस्त घटनाओंका समावेश किया जा सकता है; दूसरे भागमें उनकी आध्यात्मिक साधना—आध्यात्मिक वाङ्मय-मन्थन और योगसाधनाका चित्रण उपलब्ध होता है तथा तीसरेमें समाहित योगसिद्धिपरक स्वरूप-स्थिति अभिव्यक्त है। श्रीअरविन्दने १५ अगस्त १८७२ ई० को कलकत्तेके एक शिक्षित परिवारमें जन्म लिया। अपनी महासमाधिके तीन साल पहले सन् १९४७ई०-के पंद्रह अगस्तकी तिथिकी महत्ताका संकेत करते हुए उन्होंने उद्गार प्रकट किया था—'मेरी जन्मतिथि होनेके नाते मेरे तथा मेरे अनुयायियोंके लिये पंद्रह अगस्त स्मरणीय रहता आया है और स्वतन्त्र भारतकी जन्मतिथि होनेके नाते अब मेरे लिये उसका महत्त्व और भी बढ़ गया है।' श्रीअरविन्दके पिता कृष्णधन घोष और माँ स्वर्णलताने उनके पालन-पोषण और शिक्षा-दीक्षाकी ओर विशेष ध्यान दिया। पिता सिविल सर्जन थे। वे अंग्रेजी ढंगके रहन-सहनसे बहुत प्रभावित थे। श्रीअरविन्दको वे पश्चिमी सभ्यतामें ढालना चाहते थे। सात सालकी अवस्थामें श्रीअरविन्द अपने बड़े भाईके साथ शिक्षाके लिये इंग्लैंड भेजे गये। मैंचेस्टरके एक अंग्रेज परिवारमें उनके रहनेकी व्यवस्था की गयी। पिताने उस परिवारको सावधान कर दिया था कि श्रीअरविन्दपर भारतीय सभ्यताका रंग न चढ़ने पाये। श्रीअरविन्दने मैंचेस्टरमें तथा सेंट पॉल विद्यालय, लंदनमें ग्रीक और लैटिन साहित्यका अध्ययन किया। उन्होंने इटैलियन, जर्मन और स्पैनिश भाषाएँ भी सीखीं। अठारह सालकी अवस्थामें उत्तम श्रेणीकी छात्र-वृत्ति प्राप्तकर उन्होंने केम्ब्रिजके किंग्स विद्यालयमें प्रवेश किया। उन्होंने इंडियन सिविल सर्विसकी परीक्षामें सफलता प्राप्त की; पर दैवयोगसे घुड़सवारीमें विफल होनेसे सर्विसके अयोग्य घोषित कर दिये गये। वे तो भगवान्‌की कृपासे योगी बननेवाले थे। इंग्लैंड-निवासकालमें उन्होंने स्वदेशप्रेमका सपना देखा। वे जन्मजात विद्रोही थे। उन्होंने लंदनमें 'लोटस एण्ड डैगर (कमल-कटार) नामकी संस्था स्थापित की। उनके मनमें क्रान्तिपूर्ण विचारोंका उदय होने लगा। उन्हें अनुभव हो रहा था कि जगत्‌में एक बहुत बड़ी क्रान्ति उपस्थित होनेवाली है और उसमें उनका भाग लेना दैवनिर्दिष्ट है। इंग्लैंडमें ही बड़ौदाके महाराजा सयाजीराव गायकवाड़से उनका परिचय हुआ। श्रीअरविन्द इक्कीस सालकी अवस्थामें भारत आये और बड़ौदा राज्यमें उन्होंने नौकरी कर ली। महाराजा बड़ौदाके व्यक्तिगत कार्य-कलापोंमें भी वे सहायता देने लगे। बड़ौदा कॉलेजमें उपप्रधानाचार्यके पदपर भी उन्होंने काम किया। बड़ौदा-निवासकालमें ही उन्होंने संस्कृत और बँगलाका अध्ययन किया। वे बड़ौदामें ही श्रीहंसस्वरूप स्वामी और सद्गुरु ब्रह्मानन्दके सम्पर्कमें आये। ब्रह्मानन्द उच्च कोटिके योगी थे। उनकी अवस्था बहुत अधिक थी। केवल अस्सी साल-तक वे नर्मदाके किनारे ही विचरते रहे थे। श्रीअरविन्द दिव्य संस्कारोंके धनी थे। बड़ौदामें ही उनके साधनामय आध्यात्मिक जीवनका बीजारोपण हो सका। इस बातका स्पष्टीकरण बड़ौदासे ही अपनी पत्नी मृणालिनीको लिखे

गये पत्रसे हो जाता है। उनकी पत्नीने उन्हें पत्र लिखा था, जिसमें उन्होंने अपने और उनके प्रति निराशाके भाव व्यक्त किये थे। श्रीअरविन्दने अपनी पत्नीको समझाकर लिखा था कि 'मेरे तीन पागलपन हैं। पहला पागलपन मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि भगवान्ने जो प्रतिभा, गुण, उच्च शिक्षा तथा धन मुझे दिया है, वह सब उन्हींका है; जो कुछ परिवारके भरण-पोषणमें लगता है और जो नितान्त आवश्यक है, उसीको अपने लिये खर्च करनेका उनका अधिकार है। उसके बाद जो कुछ बच रहता है, उसे भगवान्को लौटा देना उचित है। यदि मैं सब कुछ अपने सुख और विलासके लिये करूँ तो मैं चोर कहलाऊँगा। इस दुर्दिनमें सारा देश मेरे द्वारपर अवस्थित है। मेरे तीस कोटि भाई और बहिन हैं, उनमेंसे बहुतेरे अन्नके अभावसे मर रहे हैं। उनका हित करना होगा। मैंने एक रास्ता दिखला दिया है। इसपर क्या तुम चल सकोगी? दूसरा पागलपन मेरी यह लालसा है कि मैं भगवान्का साक्षात्कार करूँ। तीसरा पागलपन यह है कि मैं अपने देशको माँकी तरह प्यार करता हूँ।' सन् १९०५ ई० में बङ्ग-भङ्ग-आन्दोलन छिड़नेपर उन्होंने बड़ौदा छोड़ दिया। वे कलकत्ता आये, स्वदेशी आन्दोलन तथा क्रान्तिपूर्ण योजनाओंमें उन्होंने सक्रिय भाग लिया। वे बंगाल नैशनल कॉलेजके प्रधानाचार्य नियुक्त हुए। स्वदेशी आन्दोलनको श्रीअरविन्दने आध्यात्मिक रूप प्रदान करनेपर बल दिया। उन्होंने सन् १९१० ई० तक राजनीतिमें सक्रिय भाग लिया। क्रान्तिपूर्ण आन्दोलन चलानेके लिये 'वन्दे मातरम्' पत्रका सम्पादन किया। उन्होंने अंग्रेजीमें 'कर्मयोगी' और बँगलामें 'धर्म' नामक साप्ताहिक पत्र निकाले। कई बार उन्हें कारागार जाना पड़ा, पर वे अपने पवित्र उद्देश्यकी पूर्तिमें लगे रहे। धीरे-धीरे उनकी चिरजाग्रत् अध्यात्मचेतनाने राजनीतिक प्रवृत्तिसे आगे प्रगति की। वे एकान्त-सेवन और योगमय जीवनका वरण करनेके लिये समुत्सुक हो उठे। उन्होंने सक्रिय राजनीतिसे हाथ खींच लिया। अलीपुर षड्यन्त्रमें वे कालकोठरीमें बंद कर दिये गये। इस समय भगवान्की कृपासे जेलके अधिकारियोंने उन्हें नित्य कालकोठरीके सामने घंटे, आधघंटे टहलनेकी अनुमति दे दी। वे पेड़के नीचे टहला करते थे। एक दिन उनके नेत्रोंने पेड़के स्थानपर साक्षात् वासुदेव श्रीकृष्णकी उपस्थितिका दर्शन किया। कारागारमें, कैदियोंमें, कण-कणमें भीतर-बाहर उन्हें श्रीकृष्ण ही दीख पड़ने लगे। न्यायालयमें भी उन्हें अपने प्रेमास्पदका दर्शन हुआ। वे योग-साधनाके लिये निकल पड़े। उन्होंने पांडिचेरीको अपनी योग-साधना और तपका क्षेत्र चुना। पांडिचेरीमें योग-साधनामें प्रवेशके पहले भी वे योगाभ्यास किया करते थे। उन्हें मराठी योगी विष्णु भास्करका भी सम्पर्क मिला था। पांडिचेरी आश्रममें श्रीमाँ—फ्रेंच योगिनीके आगमनने श्रीअरविन्दकी योग-साधनाकी प्रगतिमें महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। दोनों एक-दूसरेके दिव्य आध्यात्मिक सम्पर्कसे बहुत प्रभावित हुए। श्रीअरविन्दने अपनी योग-साधनामें श्रीमद्भगवद्गीता तथा उपनिषदोंका असाधारण महत्त्व स्वीकार किया है। पांडिचेरीका योगाश्रम उनकी साधना और आध्यात्मिक साहित्य-निर्माणका भौम प्रतीक है। उन्होंने 'आर्य' नामक तत्त्वज्ञानविषयक पत्र निकाला। वेद और उपनिषदोंका मन्थन कर अमूल्य साहित्यरत्न प्रदान किये। श्रीमद्भगवद्गीतापर निबन्धके रूपमें भाष्य प्रस्तुत किया। योगपर ग्रन्थ लिखा। 'दिव्य जीवन', 'इस जगत्की पहेली', 'योगसमन्वय', 'योगप्रदीप', 'सावित्री', 'माता', 'गीताप्रबन्ध' 'मानव-एकताका स्वरूप', 'योगसाधनाके कुछ प्रमुख तत्त्व', 'चैत्य पुरुष' आदि उनके अनेक ग्रन्थ श्रीअरविन्द-आश्रमद्वारा प्रकाशित हैं। धीरे-धीरे पांडिचेरी-आश्रमकी ख्याति बढ़ने लगी। श्रीअरविन्दकी आश्रमके सम्बन्धमें महत्त्वपूर्ण स्वीकृति है—'यह आश्रम दूसरे आश्रमोंके समान नहीं है। यहाँ कोई भी संन्यासी नहीं है। संन्यासी बनकर यहाँ कोई रहता भी नहीं। यहाँका सारा लक्ष्य ही दूसरी तरहका है।' आध्यात्मिक जीवनके पवित्र सौन्दर्यसे सम्पन्न श्रीअरविन्द-आश्रम योग-साधनाका महत्त्वपूर्ण केन्द्र है। श्रीअरविन्दने 'सादा जीवन और उच्च विचार' का सिद्धान्त अपनाया था। उनके आश्रममें गेरुआ कपड़ेवाले संन्यासी नहीं, सादे कपड़ेवाले लोग रहते हैं, जो इसी जीवनमें दिव्यता उतारनेकी साधना करते हैं।

श्रीअरविन्दकी योगसाधनाका लक्ष्य केवल देहात्मभावसे ऊपर उठना ही नहीं था; वे तो मन, बुद्धि और प्राण तथा जीवनमें परमात्मज्योति भरकर जड और पार्थिव प्रकृतिको दिव्यता अथवा अपार्थिवता प्रदान करना चाहते थे। उन्होंने जीवनको सच्चिदानन्द परमात्माकी समस्त दिव्य शक्तिसे सम्पन्न करनेकी साधना की। उन्होंने परमात्मानुभूतिसे विश्वकी समग्र अध्यात्म-चेतना और समग्र मानवताको प्राणान्वित किया। 'मानव-एकताका स्वरूप' नामक पुस्तकमें उनके उद्गार

हैं—'मनुष्यशरीरका सम्मान करना चाहिये, उसे अन्याय और अत्याचारसे सुरक्षित बनाये रखना चाहिये' 'मनुष्यके जीवनको पवित्र मानना चाहिये' 'उसके हृदयको भी पवित्र मानना चाहिये। मनुष्यके मनको सब बन्धनोंसे मुक्ति देनी चाहिये। उसे स्वतन्त्रता, कार्य, क्षेत्र तथा अवसर प्रदान करने चाहिये। उसे अपनी शिक्षा और विकासके समस्त साधन उपलब्ध होने चाहिये और मनुष्य-जातिकी सेवाके लिये उसकी शक्तियोंकी क्रीड़ाको व्यवस्थित करना चाहिये। इन सबको एक सिद्धान्त या पवित्र भावना ही नहीं मानना चाहिये; मनुष्यों, राष्ट्रों और समस्त मनुष्यजातिके व्यक्तियोंके अंदर इन्हें पूर्ण और व्यावहारिक रूपमें स्वीकृत भी होना चाहिये। सामान्य रूपसे यह कहा जा सकता है कि यही मानवताके बौद्धिक धर्मका विचार तथा उसकी भावना है।'

श्रीअरविन्दकी साधना-पद्धतिमें उच्चतम अध्यात्म यह है कि जीवन पूर्णरूपसे भागवत हो जाय, उसमें भगवज्ज्योति भर जाय। यही कहलाता है पवित्र जीवन। 'योगप्रदीप' पुस्तकमें उनकी स्वीकृति है—'ईश्वरके ही प्रभावसे प्रभावित होना और किसीके प्रभावको स्वीकार न करना—यही पवित्रता है।' श्रीअरविन्दके विचार-प्रकाशमें संसारके प्रति किसी भी प्रकारकी आसक्ति साधनामें बाधक सिद्ध होती है, जीवमात्र—सचराचरके प्रति मनमें निरन्तर सेवा—दयाभाव रखकर भगवच्चिन्तन और आत्मबोधकी ओर बढ़ते रहना ही जीवनका श्रेय है। साधकका सम्पूर्ण प्रेम भगवान्‌में केन्द्रित हो जाय, साधक-जीवनका यही सबसे बड़ा और अन्तिम लक्ष्य है। श्रीअरविन्दने 'योगप्रदीप' पुस्तकमें स्वीकार किया है—'जो निस्संकोच होकर अपने सब अङ्गों-समेत अपने-आपको भगवान्‌के समर्पण कर देते हैं, उन्हें भगवान् भी अपने आपको दे देते हैं। उन्हींके लिये शान्ति है, प्रकाश है, शक्ति है, प्रसन्नता है, मुक्ति है, विशालता है, परम ज्ञान है, आनन्दसुधासिन्धुसमूह है।' श्रीअरविन्दने बताया कि चित्तकी शुद्धि और भागवती शक्तिके अवतरणका काम एक साथ चलता है। इसके लिये मनमें सुप्रतिष्ठित शान्ति और निश्चल नीरवताकी प्राप्ति आवश्यक है। निश्चल-नीरव मनमें ही सत्य-चेतनाका निर्माण किया जा सकता है। श्रीअरविन्दने योगाभ्यासको साधनाका अभिप्राय बताया है। साधनाका फल पानेके लिये तथा निम्न प्रकृतिपर विजय पानेके लिये अपनी संकल्प-शक्तिको एकाग्र करना ही 'तपस्या' है। श्रीअरविन्दने अदिति-कार्यालय, पांडिचेरीसे प्रकाशित 'योग-साधनाके कुछ प्रमुख तत्त्व' पुस्तकके ७१वें-७२वें पृष्ठपर स्वीकार किया है—'साधनाका अर्थ है, योगका अभ्यास करना। तपस्याका अर्थ है, साधनाका फल पानेके लिये तथा निम्न प्रकृतिको जीतनेके लिये संकल्प-शक्तिको एकाग्र करना। आराधनाका मतलब है—भगवान्‌की पूजा करना, उनके प्रति प्रेम करना, आत्मसमर्पण करना, उनके लिये अभीप्सा करना, उनका नाम-जप करना, उनसे प्रार्थना करना। ध्यान है—चेतनाका भीतरमें केन्द्रीभूत हो जाना, भीतर समाधिमें चला जाना। ध्यान, तपस्या और आराधना—ये सभी साधनाके अङ्ग हैं।' श्रीअरविन्दने तपस्या, ध्यान और आराधना—साधनाके तीनों अङ्गोंको पांडिचेरी-आश्रमके तपोमय जीवनमें पूर्णरूपसे चरितार्थ कर दिया था।

श्रीअरविन्दकी आध्यात्मिक साधनाका लक्ष्य था, परम सत्ता—परमात्माकी प्राप्ति, उनकी चैतन्य-शक्तिद्वारा प्रत्येक बातका अनुभव करना; और व्यावहारिक प्रयोगमें उसे उतारकर साधनाको पूर्ण करना ही उनके योगाभ्यासका उद्देश्य था। उनके योगाभ्यासका तात्पर्य था, जीवनका भगवान्‌की सत्ता और चेतनामें प्रविष्ट हो जाना, भगवान्‌के द्वारा अधिकृत होना, भगवान्‌के लिये भगवान्‌से प्रेम करना तथा अपनी प्रकृतिमें भगवान्‌की प्रकृतिके साथ समस्वर होना। और संकल्प, कर्म तथा जीवनमें भगवान्‌का यन्त्र बनना ही श्रीअरविन्दने योगाभ्यासका परम फल कहा है।

श्रीअरविन्दकी योगविद्याका दूसरा नाम 'पूर्णयोग' है। उन्होंने 'पूर्णयोग'को कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग और आत्मसिद्धिका आधार माना था। उनके विचारसे 'पूर्णयोग'का शास्त्र वह सनातन वेद है, जो प्रत्येक विचारशील मनुष्यके हृदयमें गुप्तरूपसे निहित है। 'योग'का अर्थ ही है, परमात्माके साथ संयोग—विश्वके परे जो परम तत्त्व है, उसके साथ संयोग, या व्यष्टिगत जो आत्मा है, उसके साथ संयोग। इसका अर्थ एक ऐसी चेतनाकी प्राप्ति है, जिसमें पुरुष अपने शुद्ध अहंकार, मन, बुद्धि, प्राण और शरीरसे बँधा नहीं रहता; वह परमात्मा—विश्वात्म-चैतन्यके साथ या किसी अन्तःस्थित गूढ़ातिगूढ़ चैतन्यके साथ एकीभावको प्राप्त होता है; जिसमें वह अपने स्वरूपको जान लेता है, अन्तःस्थित आत्मा तथा जीवनके वास्तविक तत्त्वको पहचान लेता है।

श्रीअरविन्दकी 'योग-साधनाके कुछ प्रमुख तत्त्व' पुस्तकके १८वें पृष्ठमें स्वीकृति है—'हमारा योग ठीक गीताका ही योग नहीं है, यद्यपि इसमें वे सभी बातें हैं, जो गीताके योगमें भी आवश्यक हैं। अपने योगमें हम पूर्ण आत्मसमर्पणकी भावना, संकल्प और अभीप्सासे आरम्भ करते हैं; पर साथ ही हमें निम्न प्रकृतिका बहिष्कार करना पड़ता है, उससे अपनी चेतनाको मुक्त करना होता है, निम्न प्रकृतिमें आबद्ध आत्माको उच्चतर प्रकृतिमें स्वतन्त्र होते हुए आत्माके द्वारा मुक्त करना होता है।' श्रीअरविन्दकी साधनाका एकमात्र उद्देश्य यही दीख पड़ता है कि जीवात्माका भागवत चेतनामें ही निवास हो। श्रीअरविन्दने 'योग-साधनाके कुछ प्रमुख तत्त्व' पुस्तकमें ही स्पष्ट शब्दोंमें अपना मत व्यक्त किया है—'योग भगवान्‌की ओर प्रयुक्त होता है, मनुष्यकी ओर नहीं। यदि कोई दिव्य अतिमानसिक चेतना और शक्ति नीचे उतारी जा सके तो वह स्पष्ट ही मनुष्यजाति और उसके जीवनके साथ-साथ सारी पृथ्वीके लिये एक महान् परिवर्तन सिद्ध होगी। पर उसका जो प्रभाव मनुष्य-जातिपर पड़ेगा, वह उस परिवर्तनका केवल-एक फल होगा, वह साधनाका उद्देश्य नहीं हो सकता। साधनाका उद्देश्य तो, बस, यही हो सकता है कि भागवत चेतनामें निवास किया जाय और जीवनमें उसे अभिव्यक्त किया जाय।' श्रीअरविन्दने भागवत-ज्ञान, संकल्प और प्रेमके साथ युक्त होनेकी पद्धति बतायी। श्रीअरविन्दकी योग-साधनापर श्रीमद्भगवद्गीता तथा औपनिषद् ज्ञानका स्पष्ट प्रभाव दीख पड़ता है। श्रीमद्भगवद्गीताके विचार-मन्थनके रूपमें उनकी महत्त्वपूर्ण कृति 'गीता-प्रबन्ध' विश्वके अध्यात्म-साहित्यकी अमूल्य निधि है। श्रीमद्भगवद्गीता वह महाद्वार है, जिसमेंसे समस्त आध्यात्मिक सत्य और अनुभूतिके जगत्‌की झाँकी होती है। भागवत जीवनकी प्राप्तिके सम्बन्धमें 'गीता-प्रबन्ध'के पहले भागमें 'यज्ञके अधीश्वर' शीर्षकवाले अध्यायमें श्रीअरविन्दका कथन है—'भगवान् पुरुषोत्तमके साथ जीती-जागती और स्वतः परिपूरक एकता ही योगका वास्तविक लक्ष्य है, केवल अक्षर-ब्रह्ममें आत्मनिर्वाण करनेवाला लय नहीं। अपने सारे जीवनको उन्हींमें उठा ले जाना, उन्हींमें निवास करना, उनके साथ एक हो जाना, उनकी चेतनाके साथ अपनी चेतनाको एक कर देना, अपनी खण्ड प्रकृतिको उनकी पूर्ण प्रकृतिका प्रतिबिम्ब बना देना, अपने विचार और इन्द्रियोंको सम्पूर्ण रूपसे भागवत-ज्ञानके द्वारा अनुप्राणित करना, अपने संकल्प और कर्मको सर्वथा और निर्दोषतया भागवत संकल्प-द्वारा प्रवृत्त करना, उन्हींके प्रेमानन्दमें अपनी कामना-वासनाको खो देना—यही मनुष्यकी पूर्णता है, इसीको गीताने 'गुह्यतम रहस्य' कहा है।' 'गीता-प्रबन्ध' के ही दूसरे भागमें 'कर्म, भक्ति और ज्ञान' शीर्षकवाले अध्यायमें श्रीअरविन्दने भागवत-प्रेम और भक्तिके सम्बन्धमें श्रीमद्भगवद्गीताकी शिक्षापर प्रकाश डालते हुए बतलाया है—'भागवत चैतन्यके साथ अपने अन्तःकरणको एक करना, अपनी सम्पूर्ण भावमय प्रकृतिको सर्वत्र भगवान्‌के प्रति प्रेमरूप बना देना, अपने सब कर्मोंको त्रिभुवन-नाथके प्रीत्यर्थ यज्ञ बना देना और अपनी सारी उपासना और अभीप्साको उनकी भक्ति तथा आत्मसमर्पण बना देना, सम्पूर्ण आत्मभावको अभेद-भावके साथ भगवान्‌की ओर लगा देना—यही एक रास्ता है, जिससे मनुष्य इस सांसारिक जीवनसे ऊपर उठकर भागवत जीवनको प्राप्त हो सकता है। भागवतप्रेम और भक्तिके सम्बन्धमें गीताकी यही शिक्षा है।' श्रीअरविन्दने जीवात्माद्वारा निराकार-साकार—दोनों तरहके भागवत-साक्षात्कार (भगवत्प्राप्ति) में आस्था प्रकट की। 'सत्ताके विभिन्न अङ्ग और लोक-लोकान्तर' पुस्तकमें २०वें पृष्ठपर उनका मत यों निरूपित है—भगवान्‌की साकार अनुभूति कभी-कभी आकारके साथ और कभी-कभी आकारके बिना भी हो सकती है। बिना आकार होनेपर वह साक्षात् दिव्य पुरुषकी उपस्थिति होती है, जो प्रत्येक वस्तुमें अनुभूत होती है। आकार होनेपर वह एकमेवकी मूर्तिके साथ आती है, जिसे पूजा अर्पित की जाती है। भगवान् सदा ही अपने भक्त या जिज्ञासुके सामने एक आकारमें प्रकट हो सकते हैं। मनुष्य जिस आकारमें उनकी पूजा करता है या उन्हें खोजता है, उस आकारमें उन्हें देखता है, अथवा उन भागवत व्यक्तिके उपयुक्त आकारमें देखता है, जो पूजाके विषय होते हैं।' निस्संदेह आध्यात्मिक कर्मोंका सबसे महान् दिव्य सत्य, जो आजतक मानव-जातिके लिये प्रकट किया गया है, अथवा कर्मयोगकी पूर्णतम पद्धति, जो अतीतमें मनुष्यको विदित थी, भगवद्गीतामें उपलब्ध है।

श्रीअरविन्दकी 'योगसाधना' में अभिव्यक्त दर्शन—फिलासफीको भागवत जीवन, भगवत्साक्षात्कारका ही प्रतीक स्वीकार किया जा सकता है। श्रीअरविन्दने अपने भागवत ज्ञान अथवा दर्शनकी विवेचना करते हुए भगवत्स्वरूपके सम्बन्धमें 'हमारा योग और उसके उद्देश्य' पुस्तकके ३९वें पृष्ठपर स्वीकार किया है—'भगवान् एक हैं, पर वे अपने एकत्वसे सीमित नहीं हैं। हम यह देखते हैं कि वे एक हैं और सदा बहुरूपमें अभिव्यक्त हो रहे हैं; परंतु इसलिये नहीं कि ऐसा किये बिना वे रह ही नहीं सकते; प्रत्युत इसलिये कि ऐसी ही उनकी इच्छा है और इस अभिव्यक्तिसे बाहर वे अनिर्देश्य हैं। उन्हें न तो एक कहा जा सकता है न बहु।' श्रीअरविन्दने भागवत शक्तिके साथ शाश्वत संस्पर्श बनाये रखनेपर विशेष बल दिया है। भगवत्प्रेमी ही निष्पक्षरूपसे सबसे प्रेम करनेका अधिकारी होता है। 'अतिमानस'के निरूपणमें श्रीअरविन्दने 'सत्ताके विभिन्न अङ्ग और लोक-लोकान्तर' पुस्तकके १६वें पृष्ठपर अपना मत इन शब्दोंमें व्यक्त किया है—'अतिमानस सच्चिदानन्द और निम्नतर सृष्टिके बीचमें है। एकमात्र इसीके भीतर भागवत चैतन्यका आत्मनिर्धारक सत्य विद्यमान है—और वह सत्य सृष्टिके लिये आवश्यक है।' श्रीअरविन्दने भागवत-शक्तिमें ही पूर्ण विश्वास रखनेकी सीख दी है। उनके योग-दर्शनके प्रकाशमें यही है भगवान्के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण। 'योगप्रदीप' पुस्तकके ४३वें पृष्ठपर उनका उद्गार है—'सदा भागवत शक्तिके साथ संस्पर्श बनाये रखो। तुम्हारे लिये सबसे अच्छी बात यही है कि तुम केवल इतना ही करो और भागवत शक्तिको अपना कार्य करने दो। जहाँ-कहीं जरूरी होगा, वहाँ यह निम्नतर शक्तियोंको अधिकृत कर लेगी और उन्हें शुद्ध करेगी। कभी वह तुम्हें उनसे खाली कर देगी और तुम्हारे भीतर स्वयं भर जायगी।'

श्रीअरविन्द आध्यात्मिक क्रान्तिके सफल द्रष्टा ही नहीं, स्रष्टा भी थे। उनकी आध्यात्मिक क्रान्तिके मूलमें भगवदाश्रय, दिव्यीकरण—दिव्य रूपान्तर और पूर्ण-योगका निवास है। इन्हीं तीनोंके सहारे उन्होंने अपरा प्रकृतिको पूर्ण भागवत चैतन्यसे—भर देना चाहा। 'चैत्य-पुरुष' पुस्तकके पहले भागके ५१वें पृष्ठपर उनका कथन है—'हृद्गत भाव जितना अधिक गहरा होगा, भक्ति जितनी ही अधिक तीव्र होगी, उतनी ही अधिक सिद्धि और रूपान्तरकी शक्ति उत्पन्न होगी। अधिकांशमें भावकी तीव्रतासे ही 'चैत्य-पुरुष जाग्रत् होता है, तब भगवान्की ओर जानेके लिये अन्तरके द्वार खुल जाते हैं।' ईश्वरीय दिव्यता—भागवत ज्योतिका मनुष्यके भीतर संचार ही मनुष्य और परमेश्वरके अभेदका आरम्भ कहा जा सकता है, श्रीअरविन्दके योग-दर्शनके अनुसार। श्रीअरविन्दने 'योगके आधार' पुस्तकमें साधना-सम्बन्धी उचित मार्गकी व्यवस्थामें कहा है—'साधनाका सच्चा भाव यही है कि भगवान्के ऊपर अपने मनको और प्राणकी इच्छाओंको न लादा जाय, भगवान्की ही इच्छाको ग्रहण किया जाय और उसका अनुसरण किया जाय।''' बस, यही उत्तम मार्ग है। उस समय जो कुछ तुम ग्रहण करोगे, वही तुम्हारे लिये उचित वस्तु होगी।'

श्रीअरविन्दकी साधनाका सिद्धान्त यह था कि जीवन पूरी तरह भागवत हो जाय, उसमें भगवान् भर जायँ। श्रीअरविन्दने २४ नवंबर, सन् १९२६ ई०को अपनी साधनाकी महत्त्वपूर्ण स्थिति प्राप्त की। उन्होंने आश्रमका कार्यभार श्रीमाँको सौंपकर एकान्त-व्रतका पालन किया। २४ नवंबर उनके जीवनका आश्वासन-दिवस कहा जाता है। श्रीअरविन्द सालमें चार दिन १५ अगस्त (अपने जन्म-दिन), २१ फरवरी (श्रीमाँके जन्म-दिन), २४ अप्रैल (माँके आगमनके दिन) और २४ नवम्बर (आश्वासन-दिन)को लोगोंको दर्शन दिया करते थे।

सन् १९५० ई० में ५ दिसंबरको आधी रातके बाद लगभग डेढ़ बजे श्रीअरविन्द महासमाधिमें योगस्थ हो गये। एक सौ ग्यारह घंटेके बाद ९ दिसंबरको हजारों लोगोंकी उपस्थितिमें उनकी अन्त्येष्टि सम्पन्न हुई। पांडिचेरी-आश्रममें स्थित उनकी महासमाधिपर अङ्कित शब्द हैं—'हमारे देवताकी भौम-समाधि! हम आपको अपनी अनन्त कृतज्ञता अर्पित करते हैं।'''आपके सामने, जिन्होंने हमारे लिये इतना किया, जिन्होंने हमारे लिये कर्म, संघर्ष, तपस्या और आशा तथा सहनशीलताका निर्वाह किया, जिन्होंने हमारे लिये समस्त संकल्प-सम्पादन, प्रयत्न, प्रस्तुति और समस्त उपलब्धिका व्रत-अनुष्ठान

किया, हम नतमस्तक होते हैं और विनम्र निवेदन करते हैं कि एक क्षणके लिये भी हम आपकी अनुगृहीतिका विस्मरण न करें।'

पांडिचेरी-आश्रमकी श्रीमाताजीकी उक्ति है—'कितना सुन्दर होता है वह दिन, जब मनुष्य अपनी श्रद्धा-भक्ति श्रीअरविन्दको समर्पित कर पाता है।'

श्रीअरविन्द योगमानव थे। उनकी योगसाधना अमर है, उनकी भागवत चेतना अविनश्वर है।

गोसाईं श्रीविट्ठलनाथजी

[लेखक—डा० (सेठ) श्रीगोविन्ददासजी]

(गताङ्क, पृष्ठ १०२७ से आगे)

पहला अङ्क

पहला दृश्य

स्थान—जतीपुरामें पूरनमल खत्रीद्वारा बनाये हुए श्रीनाथजीके मन्दिरका वह भाग, जिसमें मणिकोठेमें श्रीनाथजी विराजे हुए हैं। सामने नवनीतप्रियजी गादींपर विराजमान हैं।

समय—मध्याह्न।

[मणिकोठेके तीन ओरकी स्वच्छ सफेद दीवारें दिखती हैं। दाहिनी और बाँयीं ओरकी दीवारोंमें वैसी ही चौखटों और पल्लोंके छोटे-छोटे दरवाजे हैं, जैसे गोकुलमें विट्ठलनाथजीके घरके कक्षके थे। पीछेकी दीवारके कुछ आगे श्रीनाथजीका अचल विशाल स्वरूप प्रतिष्ठित है। स्वरूपके ऊपर और दोनों ओर ऐसी पिछवाई लगी है, जिसमें विविध प्रकारके पुष्प चित्रित हैं। पिछवाईके ऊपरी भागसे सटा हुआ इसी प्रकारका चँदोवा तना है। आज श्रीनाथजीका फूलमण्डलीका मनोरथ है। श्रीनाथजी एक फूलके बँगलेमें विराजमान हैं। यह बँगला बेलेकी कलियोंका बनाया हुआ है। बँगलेके स्तम्भोंपर खड़ी कड़ियाँ बँधी हुई हैं। ऐसे छः स्तम्भ हैं। आगे एक-एक और दो-दो स्तम्भ और पीछे एक-एक और एक-एक स्तम्भ। आगेके दो-दो स्तम्भोंके बीचमें कलियोंकी सुन्दर जाली बनायी गयी है। इन स्तम्भोंपर बँगलेकी छत है। सारी छत कलियोंकी जालीसे आच्छादित है। बँगलेकी कलात्मक कलियोंका काम देखते ही बन पड़ता है। श्रीनाथजीका आज फूलोंका शृङ्गार है। मल्हकाद गलेसे चरणोंतक कलियोंका सुन्दर पुष्पहार और मस्तकपर फूलोंका टिपारा तथा कानोंमें फूलोंके कुण्डल। दो-दो छोरोंके दो पुष्पोंके बने हुए दुपट्टे हैं। भुजाओंके बीच-बीच भुजबन्ध, हाथोंके वलय और चरणोंके नूपुर भी फूलोंके हैं। अद्भुत दर्शनीय शृङ्गार है। नवनीतप्रियजीका शृङ्गार भी फूलोंका है। सामने एक जलका कुण्ड है, जिसमें विविध रंगके फुहारे छूट रहे हैं। इस कुण्डके सम्मुख कीर्तनिया गा रहे हैं और पदके साथ विविध प्रकारके वाद्य बज रहे हैं।]

पद

बैठे फूल-महल में दोऊ राधा और गिरधारी।
फूलन हार, सिंगार फूलनके, फूल टिपारो धारी॥
फूलन सेज, गेंदुआ, तकिया, फूलन की पिछवारी।
फूले गावत बेनु बजावत, राग रंग भयौ भारी॥
फूले मधुप-कोकिला कूजत, बहत पवन सुखकारी।
श्रीविट्ठल गिरधरन लाल पर तन-मन-धन सब वारी॥

(पद समाप्त होते-होते विट्ठलनाथजी पधारकर आरती करते हैं। आज भी विट्ठलनाथजी श्वेत उपरना और धोती ही पहने हैं, परंतु गलेमें मोतीकी कंठी और हाथोंमें सोनेके कड़े हैं। स्त्री-पुरुषोंकी भारी भीड़ है। आरतीके बाद

'श्रीगिरिराजधरनकी जय' का बार-बार जय-जयकार होता है ।)

लघु यवनिका

दूसरा दृश्य

स्थान—वही ।

समय—मध्याह्न ।

[आज नावका मनोरथ है । श्रीनाथजीका मुकुट-काछनीका शृङ्गार है । काछनी तीन रंगकी है, जो बड़े पतले वस्त्रकी बनायी हुई है । सारा शृङ्गार मोतीका है—मोतीका मुकुट, कानोंमें मोतीके झुमके, मोतीके हार, मोतीके भुजबन्ध, वलय और नूपुर । पिछवाईमें यमुनाजीका दृश्य है । चँदोवामें बादलोंसे आच्छन्न हुआ आकाश चित्रित है । सामने एक लंबे जलके कुण्डमें छोटी-सी सुन्दरतासे रँगी हुई मोरपंखी नाव है । इस नावमें कमलके पुष्पोंका बँगला है, जिसमें श्रीनवनीतप्रियजी गादीपर विराजमान हैं । नवनीतप्रियजीका शृङ्गार भी मोतीका है । कुण्डके सामने कीर्तनिया गा रहे हैं । अनेक वाद्य-वादक विविध प्रकारके वाद्य बजा रहे हैं ।]

पद

स्याम जमुना बीच खेवत नाव ।
एक सखी आई घर सैं कहै, मोहू कौं बैठाव ॥ १ ॥
बैठौं कैसैं, घाट औघट है, रपट परत हैं पाँव ।
हाथ पकरि बैठाय आप ढिंग, रसिकन रच्यौ उपाव ॥ २ ॥

(पद पूरा होते-होते विट्ठलनाथजी आकर आरती करते हैं । उनकी वेश-भूषा पहले दृश्यके सदृश ही है । स्त्री-पुरुषोंकी अपार भीड़ है, जो पहले दृश्यके सदृश ही 'गिरिराजधरनकी जय' बारंबार बोलती है ।)

लघु यवनिका

तीसरा दृश्य

स्थान—वही ।

समय—संध्या ।

[आज झूलेका मनोरथ है । श्रीनाथजीका सेवरेका शृङ्गार है । रेशमी चाकका पीला धागा है और विविध रंगके रत्नोंसे जड़ा हुआ सेवरा, हार, भुजबन्ध, वलय और नूपुर । पिछवाई पीली रेशमी है, जिसमें रुपहरी गोटेका काम है । इसी प्रकारका चँदोवा है । श्रीनाथजीके दाहिनी ओर दाहिनी दीवारसे कुछ आगे हिंडोरा है, जो पीले कदंबके पुष्पोंसे बनाया गया है । हिंडोरेमें गादीपर श्रीनवनीतप्रियजी विराजमान हैं । वे भी पीतवस्त्र ही धारण किये हुए हैं और उनका शृङ्गार भी विविध प्रकारके रत्नोंसे जड़ा हुआ है । सामने कीर्तनिया गा रहे हैं । इनके साथ विविध प्रकारके वाद्य बज रहे हैं ।]

पद

प्यारी को हिंडोरना हो रोप्यौ कदम की डारी ॥
रेशम डोर, पवन पुरवाई, झूलत स्याम बिहारी ॥
चहुँदिस सखी झुलावत ठाढ़ी, तन-मन-धन बलिहारी ॥ १ ॥
राधे जू झूलत, स्याम झुलावैं, गावत गीत सुहाई ॥
मधुर-मधुर घन गरजत जैसें मधुरि-सी मुरलि बजाई ॥ २ ॥
बृंदावन की सोभा निरखत, गावत सावन-गीत ॥
श्रीविट्ठल प्रभु की छबि निरखत दोउन की रस रीत ॥ ३ ॥

(पद समाप्त होते-होते विट्ठलनाथजी आकर आरती करते हैं । आज वे पीली रेशमी बगलबंदी पहने हुए हैं और पीला जरीका दुपट्टा लिये हैं । वे भी जड़ाऊ आभूषणोंसे भूषित हैं । अपार दर्शनार्थी स्त्री-पुरुषोंकी भीड़ है, जो बार-बार 'गिरिराजधरनकी जय' बोलती है ।)

लघु यवनिका

चौथा दृश्य

स्थान—वही ।

समय—संध्या ।

[आज साँझीका मनोरथ है । श्रीनाथजीका दुमालेका शृङ्गार है । सलमे-सितारेके कामवाला रेशमी

पचरँगी घेरदार बागा। वैसा ही दुपट्टा और पचरंगी जड़ाऊ आभूषण। पिछवाई और चँदोवा भी पचरंगी है। सामने विविध रंगकी इन्द्रधनुषी बड़ी ही कलात्मक साँझी बनायी गयी है। साँझीमें वृन्दावन चित्रित है, जिसके एक ओर यमुना बह रही है और दूसरी ओर गोवर्धन पर्वतके शिखर दृष्टिगोचर हो रहे हैं। यमुनाके तटपर गोपी-ग्वालोंसे घिरे हुए भगवान् श्रीकृष्ण चित्रित हैं, जो मुरली बजा रहे हैं। सारा दृश्य दर्शनार्थी एक-टक दृष्टिसे निहार रहे हैं। उनकी चितवनसे जान पड़ता है कि उनका मन इन दर्शनोंसे अघा नहीं रहा है। सामने निम्नलिखित कीर्तन हो रहा है और पदके साथ विविध वाद्य-यन्त्रोंका वादन हो रहा है।]

पद

पूजन चली साँझिकि सुभ घरि, सुभ दिन, सुभ महुरत रात ॥
चंचल चपल चपला-सी डोलत, चंपे-जैसे गात ॥ १ ॥
अपने-अपने मँदिर ते निकसीं, दीप लिएँ सब हाथ ॥
घोंघी के प्रभु तुम बहु नायक, सब सखियन के साथ ॥ २ ॥

(पिछले दृश्योंके सदृश इस दृश्यमें भी पद समाप्त होते-होते पचरंगी रेशमी सलमे-सितारेके कामवाली बगलबंदी पहने, वैसा ही दुपट्टा लिये, जड़ाऊ विविध आभूषणोंमें विभूषित विट्ठलनाथजी आरती करते हैं। गिरिराजधरनका जय-जयकार होता है।)

लघु यवनिका

पाँचवाँ दृश्य

स्थान—वही।

समय—रात्रि।

[आज अन्नकूट है। हीरोंसे जड़ा हुआ भारी शृङ्गार है। मस्तकपर हीरेका कुलहा है, जिसके पीछे श्वेत जरीके गोकर्ण धारण कर रखे हैं। गोकर्णोंके पीछे मोरचन्द्रिका है। कानोंमें हीरेके कुण्डल हैं। कण्ठसे लेकर चरणोंतक हीरोंके हार, भुजाओंपर हीरोंके भुजबन्ध और हाथोंमें हीरेके वलय तथा चरणोंमें हीरेके नूपुर हैं। वस्त्र सफेद जरीके हैं। चाकका बागा और जिसके छोरोंपर मोतीकी झालर है, ऐसा श्वेत जरीका दुपट्टा है। पिछवाई और चँदोवा भी श्वेत जरीके हैं। श्रीनाथजीके सामने आज मथुरेशजी, विट्ठलनाथजी, द्वारकाधीशजी, गोकुलनाथजी, गोकुलचन्द्रमाजी, बाल-कृष्णजी और मदनमोहनजीके सात स्वरूप विराजमान हैं। एक ओर गादीपर नवनीतप्रियजी हैं और दूसरी ओर गादीपर मुकुन्दरायजी। सबका शृङ्गार श्रीनाथजीके सदृश ही है। [आज सामने विविध प्रकारकी भोज्य-सामग्री दृष्टि-गोचर होती है, कीर्तनकार नहीं दिखते। नेपथ्यमें कीर्तन हो रहा है, जिसके साथ नेपथ्यमें ही विविध प्रकारके वाद्य बज रहे हैं।]

पद

गाम-गाम ते ग्वालिन आई ॥
अति आनंद चलीं घर-घर तें, गोवर्धन-पूजा कौं धाई ॥ १ ॥
खीर-हाँड़ि, दधि, पुआ, सुहारी पूजन कौं सब लाई ॥
गावत गीत सबै गोधन के, अति ही लगत सुहाई ॥ २ ॥
जसुमति-सुत ब्रजराज-लाडिले फिरि-फिरि निरखि सराई ॥
श्रीविट्ठल गिरधरन लाल पर ब्रज-सुंदरि मुसकाई ॥ ३ ॥

(पद समाप्त होते-होते घंटे और झालरकी ध्वनि सुनायी देती है, जिससे जान पड़ता है कि दूरमें आरती हो रही है। आज आरती करते हुए विट्ठलनाथजीके दर्शन नहीं होते। दर्शनार्थी भी नहीं दीख पड़ते। गिरिराजधरनकी जय-जयकारके शब्दोंसे जान पड़ता है कि दूरपर अपार दर्शनार्थियोंकी भीड़ है।)

(यवनिका)

दूसरा अङ्क

पहला दृश्य

स्थान—जतीपुराका एक मार्ग।

समय—अपराह्न।

(देहाती मार्ग है। मार्गके दोनों ओर कुछ देहाती मकान बने हुए हैं। मार्गमें कुछ नागरिक

खड़े हैं। वेश-भूषा व्रजके ग्रामीणोंके सदृश है, परंतु सबके ललाटपर वल्लभ-सम्प्रदायका लाल कुङ्कुमका तिलक है, जिसके बीचमें पीले गोपीचन्दनके छापे हैं।)

एक—तिलकायत श्रीगोपीनाथजी जगदीशपुरीमें ही लीलामें पधारे।

दूसरा—वय भी उनकी कुछ अधिक नहीं थी।

तीसरा—हाँ, अल्पवयस्क ही थे, परंतु अवस्था तो लीलामें पधारते समय श्रीमहाप्रभुजीकी भी कम ही थी।

चौथा—उन्हें तो भगवदाज्ञा प्राप्त हुई थी कि उनका कार्य समाप्त हो गया और अब वे पुनः लीलामें पधार आयें।

पाँचवाँ—वे स्वयं ही अवतार थे।

पहला—सम्भव है, इसी प्रकारकी लीलामें पधारनेकी भगवदाज्ञा गोपीनाथजीको प्राप्त हुई हो।

दूसरा—परंतु गोपीनाथजीको श्रीनाथजीकी तो ऐसी आज्ञा प्राप्त हो नहीं सकती; क्योंकि श्रीनाथजीके तिलकायत रहते हुए भी उनके इष्ट तो जगन्नाथजी ही थे।

तीसरा—क्या कहते हो! श्रीनाथजी और जगन्नाथजीमें कोई भेद है क्या? दोनों ही भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूप हैं।

चौथा—जो कुछ भी हो। अब प्रश्न है श्रीनाथजीके तिलकायतका।

पाँचवाँ—यह प्रश्न उठना तो नहीं चाहिये; क्योंकि गोपीनाथजीके रहते हुए भी तिलकायतका सारा कार्य विट्ठलनाथजी ही करते थे।

चौथा—हाँ, बात तो ऐसी ही थी। यह विवाद नहीं उठना चाहिये था। विट्ठलनाथजीने अपनी विविध प्रकारकी सेवासे श्रीनाथजीको जनसमुदायके लिये कितना आकर्षक बना दिया है। श्रीनाथजीका शृङ्गार, राग और भोग अद्वितीय हैं। मुगल-दरबार भी श्रीनाथजीके सामने फीका पड़ गया है। इतनेपर भी विवाद तो उठ ही गया।

पहला—यह विवाद कुछ स्वार्थियोंने उठाया है।

दूसरा—ये स्वार्थी अपने स्वार्थ-साधनके लिये गोपीनाथजीके दुधमुँहे बच्चेको तिलकायत बनाना चाहते हैं।

तीसरा—पर कहाँ विट्ठलनाथजी और कहाँ गोपीनाथजीके लालजी पुरुषोत्तम!

पहला—पर स्वार्थी यह कहाँ देखते हैं। उनका उल्लू तो तभी सीधा हो सकता है, जब सत्ता इस दुधमुँहे बच्चेके हाथमें आये।

चौथा—और विट्ठलनाथजी इस सारे प्रसङ्गमें एकदम तटस्थ हैं।

पहला—हाँ, वे तो कहते हैं कि उनका कार्य श्रीनाथजीकी सेवा है। गोपीनाथजीके तिलकायत रहते हुए भी वे यह सेवा करते थे और अब भी वे ही करेंगे, तिलकायत चाहे कोई भी क्यों न हो।

पाँचवाँ—सारे प्रसङ्गमें सबसे अधिक दुःखकी बात तो यह है कि अधिकारी कृष्णदास इस विवादमें गोपीनाथजीकी बहूजीके साथ हो गये हैं, जो अपने पुत्रको तिलकायत बनाना चाहती हैं।

(एक और नागरिकका शीघ्रतासे प्रवेश)

आगन्तुक—अरे, आपलोगोंने सुना, अधिकारी कृष्णदासने विट्ठलनाथजीके लिये श्रीनाथजीकी ड्योढ़ी बंद कर दी। पहलेसे उपस्थित पाँचों नागरिक—(एक साथ) क्या''क्या''कह रहे हो?

आगन्तुक—मैं बिल्कुल ठीक कह रहा हूँ। अब विट्ठलनाथजी श्रीनाथजीके दर्शन नहीं कर सकेंगे। यद्यपि उन्होंने अब गोकुलको अपना स्थायी निवास बनाकर उसे बसाया है, तथापि वे गोकुलमें भी नहीं रहेंगे। वे परासोली गाँवके चन्द्र-सरोवरपर जा रहे हैं और श्रीनाथजीके दर्शनके बिना उन्होंने अन्नका त्याग कर दिया है। जबतक उन्हें श्रीनाथजीके दर्शन नहीं मिलेंगे, तबतक वे केवल दूध पीकर अपना शरीर चलायेंगे।

पाँचवाँ—हम कृष्णदासके इस अत्याचारको कभी सहन नहीं कर सकते। पहलेसे आये हुए शेष चार नागरिक—(एक साथ) कभी नहीं''कभी नहीं।

आगन्तुक—अच्छा, अभी तो हम चलें, जहाँ विट्ठलनाथजी निवास करेंगे। आगन्तुकको छोड़ सब नागरिक (एक साथ) हाँ, सब वहीं चलें, जहाँ विट्ठलनाथजी हैं।

(लघु यवनिका)

दूसरा दृश्य

स्थान—गोकुलमें विट्ठलनाथजीके घरका एक कक्ष।

समय—अपराह्न।

(यह कक्ष वैसा ही है, जैसा उपक्रममें विट्ठलनाथजीका कक्ष था । अपने कुछ साथियोंके साथ गिरिधरजी बैठे हुए हैं । गिरिधरजी तरुणाईमें प्रवेश कर रहे हैं । गौरवर्णके सुन्दर व्यक्ति हैं । ऊपरके शरीरपर सफेद बगलबंदी धारण किये हुए हैं और नीचेके शरीरपर श्वेत धोती । सिरके केस लंबे हैं और चौड़ी शिखा पीछेकी ओर बँधी हुई है । उनके गलेमें कंठी और हाथोंमें वलय भी हैं । आभूषण स्वर्णके हैं । उनके ललाटपर वल्लभ-सम्प्रदायका लाल रोलीका तिलक लगा हुआ है, जिसके बीचमें पीले गोपीचन्दनके छापे हैं । उनके साथी भी सभी तरुण हैं और सबकी वेष-भूषा गिरिधरजीके सदृश ही है । सबके ललाट तिलक और छापोंसे विभूषित हैं ।)

गिरिधर—पिताश्रीको अन्न छोड़े छः मास बीत गये । श्रीनाथजीके वियोगमें जिस प्रकारकी व्यथित मनोदशामें वे रहते हैं, वह सहनीय नहीं है ।

एक नागरिक—सर्वथा असहनीय है ।

बहुत-से नागरिक (एक साथ)—सर्वथा, सर्वथा ।

गिरिधर—उनकी मनःस्थितिका पता उन विज्ञप्तियोंसे लगता है, जिन्हें निर्मितकर और लिख-लिखकर वे श्रीनाथजीकी सेवामें नित्य ही भेजते हैं ।

एक नागरिक—उनका मन तो विरहसे भरा हुआ है, इसमें संदेह नहीं और इसी कारण इन विज्ञप्तियोंकी इस प्रकारकी रचना हो रही है । परंतु उनके इस मानसिक कष्टके कारण ऐसे साहित्यकी रचना हो रही है, जो करुणरसकी दृष्टिसे स्थायी साहित्य होगा ।

दूसरा नागरिक—महाकवि भवभूतिने तो साहित्यके नवरस न मानकर यथार्थमें एक करुणरसको ही सच्चा रस माना है ।

कुछ नागरिक—(एक साथ) यह सत्य, सत्य है ।

गिरिधर—परंतु वैष्णवो ! पुत्रके नाते मेरे लिये तो पिताश्रीकी ऐसी मानसिक अवस्थाका सहन कर सकना असम्भव है ।

एक नागरिक—आप तो उनके पुत्र हैं, अतः आपके लिये उनकी यह मानसिक स्थिति सहन करना सम्भव नहीं; पर इने-गिने लोगोंको छोड़कर सारे व्रजवासी उनकी इस मनोदशासे कितने पीड़ित हैं, इसका वर्णन नहीं हो सकता ।

कुछ नागरिक—(एक साथ) हाँ, वह वर्णनातीत है, कृपानाथ, वर्णनातीत ।

एक नागरिक—पर इस स्थितिके अन्त करनेका क्या उपाय है, यह किसीकी समझमें नहीं आता ।

गिरिधर—मैंने बहुत सोचने-विचारनेके पश्चात् इसका उपाय खोजा और उस उपायके अनुसार व्यवस्था भी कर ली ।

कुछ नागरिक—(एक साथ) क्या व्यवस्था की, क्या व्यवस्था की ?

एक नागरिक—क्या हमलोग उसे सुननेके अधिकारी नहीं हैं ?

गिरिधर—आप ही नहीं, सारा देश उसे सुनेगा और सुनकर इतना प्रसन्न होगा कि जिसकी आप कोई भी कल्पनातक नहीं कर सकते ।

कुछ नागरिक—(एक साथ) कहिये, जल्दी कहिये उसे ।

गिरिधर—वैष्णवो ! जब छः महीनेकी उधेड़-बुनके पश्चात् भी मुझे शासनकी सहायता लेनेके सिवा और कोई मार्ग नहीं दिखायी दिया, तब मैंने इस सम्बन्धमें शासनकी सहायता ली है ।

कुछ नागरिक—(एक साथ) बिल्कुल ठीक किया आपने, बिल्कुल ठीक ।

कुछ नागरिक—(एक साथ) सर्वथा, सर्वथा ।

गिरिधर—शासनकी सहायता लेकर मैंने क्या किया, इसे सुनकर आप सब प्रसन्न हो जायँगे ।

कुछ नागरिक—जल्दी-जल्दी बता दीजिये हमें ।

एक नागरिक—हाँ, हमारा कलेजा मुँहको आ रहा है ।

गिरिधर—उस दुष्ट कृष्णदासको अबतक बंदी बना लिया गया होगा ।

कुछ नागरिक—(एक साथ, जोरसे) बहुत अच्छा, बहुत अच्छा ।

गिरिधर—(बगलबंदीके खीसेसे एक कागज निकालकर) और यह शाही फरमान है, जिसके अनुसार पिताश्री श्रीनाथजीके मन्दिरमें प्रवेश कर सकेंगे ।

कुछ नागरिक—(एक साथ) धन्य है, धन्य है आपको।

एक नागरिक—पुत्र हो तो ऐसा हो।

गिरिधर—चलिये, अब हम सब चन्द्रसरोवरपर चलकर पिताजीको जतीपुरामें श्रीनाथजीके मन्दिरको ले चलें।

सब नागरिक—(एक साथ) अवश्य, अवश्य। गिरिराजधरनकी जय! (गिरिधरजी कक्षसे बाहर निकलते हैं। सब लोग जय-जयकार करते हुए उनके पीछे-पीछे जाते हैं।)

(लघु यवनिका)

तीसरा दृश्य

स्थान—चन्द्रसरोवर।

समय—अपराह्न।

[स्वच्छ जलसे भरे हुए सुन्दर कुण्डका एक भाग दिखायी देता है। कुण्डके चारों ओर घना वन है। कुण्डके एक घाटपर अत्यन्त निकट एक छोटा-सा घर है। उसकी दालानमें अकेले विट्ठलनाथजी एक गादी-पर बैठे हुए हैं। वे श्वेत धोती और उपरना धारण किये हुए हैं। वस्त्र स्वच्छ न होकर मैले हो गये हैं। शरीरपर कोई आभूषण नहीं हैं। क्षौर न होनेके कारण मूँछें और दाढ़ीके बाल बहुत बढ़ गये हैं, जिनसे उनका सुन्दर मुख-मण्डल आच्छादित-सा हो गया है। सिरके बाल भी बढ़े हुए हैं। बालोंमें तेल-फुलेल आदि नहीं हैं और सिर तथा दाढ़ी-मूँछोंके बाल बिखरे हुए-से हैं। विट्ठलनाथजीके सामने एक काष्ठके छोटे-से सिंहासनपर, जिसपर गद्दी-तकिये लगे हैं, श्रीनाथजी-का चित्र रखा हुआ है। विट्ठलनाथजी हाथ जोड़े हुए कह रहे हैं। आँखोंमें आँसू भरे हुए हैं।]

विट्ठलनाथ—छः महीने, छः महीने हो गये आपके दर्शन मिले। कौन-कौनसे मेरे ऐसे पापोंका उदय हुआ है, जिससे आपके दर्शनोंसे वञ्चित रहकर जीवन व्यतीत कर रहा हूँ। ऐसे जीवनसे तो मृत्यु कहीं भली है। इस जन्ममें तो कोई पाप स्मरण नहीं आते, जो बन पड़े हों; परंतु न जाने कितने जन्मोंके कर्म फल देते हैं। (कुछ रुककर) क्या पिताश्रीके समयकी आपकी सेवा-पद्धति ही ठीक थी? गुंजमाल और मोरचन्द्रिकाका शृङ्गार, रूखा-सूखा भोग? जहाँतक रागका सम्बन्ध है, अष्टछापमें तो उनके समयके भी चार गायक कवि हैं। मैंने इस सेवा-पद्धतिमें जो परिवर्तन किया और जिस वैभवका समावेश किया, उसमें मेरा तो कोई स्वार्थ नहीं था। मुगल-दरबारके आकर्षणसे जन-समुदाय-को खींचकर आपके चरणोंका आश्रय दिलाना ही इस परिवर्तनका उद्देश्य था और इसमें सफलता भी कम नहीं मिली। आज आपके दरबारके सम्मुख मुगल-दरबार एकदम फीका पड़ गया है। आपके दर्शन, आपके प्रसाद और आपके कीर्तनसे जन-समुदायका मानस सराबोर है और जो कुछ भी ये करते हैं, आपके ही प्रीत्यर्थ। ऐसे उत्सवों, ऐसे मनोरथोंकी किसीने कभी कोई कल्पनातक न की थी। इन अवसरोंपर जन-समुदाय कितना तल्लीन हो जाता है, वह उनके मुख-मण्डलोंसे दिखायी पड़ता है। आपकी सेवा-पद्धतिमें यह परिवर्तन कर क्या मैंने अपराध किया है? (फिर कुछ रुककर) हे नाथ! अब तो सहन नहीं होता। आपका यह विप्रलम्भ असहनीय हो गया है। गजेन्द्रकी पुकार सुन आप कैसे आतुर हो दौड़े थे। द्रौपदीका करुण-क्रन्दन भी आप सहन नहीं कर सके थे। स्वयं उसका चीर बन गये थे, जिसे खींच-खींचकर जिस दुश्शासनमें दस हजार हाथियोंका बल था, वह भी थक गया था। और भी किन-किन भक्तोंकी आपने किस-किस प्रकार पुकार सुनी है! पर प्रभो! गजेन्द्र, द्रौपदी और अधिकांश भक्तोंकी पुकार उनकी किसी निजी कामनाकी सिद्धिके लिये हुई है। मेरी कामना तो केवल आपके पवित्र दर्शनमात्रकी है। उससे वञ्चित रहनेका यह महान् दुःख मुझे क्यों? मेरी यह पुकार नहीं सुनेंगे? (फिर कुछ रुककर) यदि हृदयको थोड़ा-बहुत धीरज बँधता है तो उन विज्ञप्तियोंकी रचना और उन्हें आपकी सेवामें भेजनेसे। सुनिये, आप तो सब स्थानोंमें व्याप्त हैं। आप अप्राकृतिक नेत्रोंसे ही सब कुछ देखते हैं, अप्राकृतिक कानोंसे ही सब कुछ सुनते हैं। इस प्रकारके आप क्या मेरी यह प्रार्थना नहीं सुनेंगे?

(प्रार्थना पूरी होते-होते नेपथ्यसे 'गिरिराजधरनकी जय'के नारे सुन पड़ते हैं, जो ध्वनि निकट आती जा रही है। विट्ठलनाथजीका ध्यान उस ओर आकर्षित होता है। थोड़ी ही देरमें गिरिधरजीका जन-समुदायके साथ प्रवेश)

एक नागरिक—(दण्डवत् करते हुए) पधारिये, जय, पधारिये। श्रीनाथजीकी ड्योढ़ी आपके लिये खुल गयी।

दूसरा नागरिक—(दण्डवत् कर) इस वियोगका अन्त कर अब श्रीनाथजीके दर्शन कीजिये।

विट्ठलनाथ—(खड़े होकर, कुछ आश्चर्यसे) क्या हुआ, कुछ समझमें नहीं आ रहा है।

तीसरा—(दण्डवत् कर) उस दुष्ट कृष्णदासको, जिसने श्रीनाथजीकी ड्योढ़ी आपके लिये बंद करवा दी थी, शासनने बंदी बना लिया और शाही फरमानके द्वारा श्रीनाथजीकी ड्योढ़ी आपके लिये खोल दी।

विट्ठलनाथ—(और अधिक आश्चर्यसे) मेरी समझमें कुछ नहीं आ रहा है।

एक नागरिक—जय, आपके बड़े पुत्र श्रीगिरिधरजीने प्रयत्न कर उस दुष्टको बंदी बनवाया और शाही फरमानद्वारा श्रीनाथजीकी ड्योढ़ी आपके लिये खुलवा दी।

दूसरा—पुत्र हो तो ऐसा हो।

कुछ नागरिक—(एक साथ) धन्य, ऐसे पुत्रको धन्य है!

विट्ठलनाथ (जिनका मस्तक इस चर्चाको सुनकर झुक गया था, सिर उठाते हुए, दीर्घ निःश्वास छोड़ धीरे-धीरे)—समझा, अब समझा। तो गिरिधरने कृष्णदासको बंदी बनवाकर श्रीनाथजीकी ड्योढ़ी मेरे लिये खुलवायी है?

एक नागरिक—इससे बड़ा कार्य इस समय गिरिधरजीको छोड़कर कोई नहीं कर सकता था।

बहुत-से नागरिक—(एक साथ) कोई नहीं, कोई नहीं।

विट्ठलनाथ—(जल्दी-जल्दी) पर मैं यह नहीं मानता। (गिरिधरजीसे) गिरिधर! तूने यह बुरे-से-बुरा काम किया है। श्रीनाथजीके अधिकारीको हमारे कुलका कोई व्यक्ति बंदी बनवाये और मैं शाही फरमानद्वारा श्रीनाथजीके दर्शनके लिये जाऊँ, यह असम्भव कल्पना है। श्रीनाथजीके विरहमें तड़प-तड़पकर मैं अपने प्राणोंको त्याग दूँगा। अबतक तो मैंने केवल अन्न छोड़ा था, अब तो जबतक कृष्णदास बन्धनसे मुक्त न होंगे, तबतक मैं जल भी ग्रहण न करूँगा। मुझे श्रीनाथजीके दर्शनके लिये श्रीनाथजीके अधिकारी ही ले जा सकते हैं, शाही फरमान नहीं।

(सभीके मुखपर हवाइयाँ-सी उड़ने लगती हैं। सब आश्चर्यसे स्तम्भित रह जाते हैं।)

(लघु यवनिका)

चौथा दृश्य

स्थान—वही जो तीसरे दृश्यमें था।

समय—संध्या।

[उद्विग्न विट्ठलनाथजी इधर-उधर टहल रहे हैं। उनके मुखसे निकल रहा है—'यह क्या हुआ, क्या हुआ, प्रभो!' उसी समय नेपथ्यमें गिरिराजधरनका जयघोष सुनायी पड़ता है, जो नजदीक आ रहा है। कृष्णदासका गिरिधरजी और जन-समुदायके साथ प्रवेश। कृष्णदास अधेड़ वयका मोटा-ताजा, ऊँचा-पूरा व्यक्ति है। सफेद बगलबंदी और धोती पहने हुए है। सिरपर ब्रजका छोटा-सा टोपा है। ललाटपर तिलक और छापे हैं।]

कृष्णदास—पधारिये, जय, पधारिये। मैं श्रीनाथजीका अधिकारी बंदीखानेसे मुक्त हो, आपको श्रीनाथजीके मन्दिरमें पधरानेके लिये आया हूँ।

(कृष्णदास विट्ठलनाथजीके चरणोंमें साष्टाङ्ग दण्डवत् कर निम्नलिखित पद गाता है।)

पद

परम कृपालु श्रीवल्लभनंदन करत कृपा निज हाथ दै माथै।
जे जन सरन आय अनुसरहीं, गहि सौंपत श्री गोवर्धन नाथै॥
परम उदार चतुर चिंतामनि राखत भव धारा ते साथै।
भज कृष्णदास काज सब सरहीं, जो जानै श्रीविट्ठल नाथै॥

(लघु यवनिका)

पाँचवाँ दृश्य

स्थान—जतीपुरामें गोवर्धनपर श्रीनाथजीके मन्दिरका सिंहद्वार।

समय—प्रदोष।

(सामने बड़ा भारी फाटक है, जिसके दोनों ओर सिंह बने हैं। सामने मैदान-सा है, जिसमें गोवर्धनकी कुछ शिलाएँ दृष्टिगोचर होती हैं। श्रीनाथजीके शयनके दर्शनका समय है। नेपथ्यमें उच्चस्वरमें हरिधुन सुन पड़ती है। बीच-बीचमें 'गिरिराजधरनकी जय' शब्द भी होता है। हरिधुन करते हुए आगे-आगे अधिकारी कृष्णदास, उनके पीछे विट्ठलनाथजी, उनके पीछे गिरिधरजी और इन लोगोंके पीछे वैष्णवोंका एक समूह प्रवेश करता है। उत्साह चरम सीमाको पहुँच गया है।)

यवनिका

आस्तिकताकी आधार-शिलाएँ

सब होते हुए भी दयामयकी कृपाका पलड़ा ही भारी रहेगा

एक बात हमेशा ध्यानमें रखनेकी है कि हम कितना भी क्यों न चाहें, किंतु हमारा जो संकल्प भगवान्‌की इच्छासे समन्वित नहीं होगा, वह कभी पूरा हो नहीं सकता। अतः जब कोई भी हमारी धारणाके प्रतिकूल बात आकर प्राप्त हो तो विश्वास कर लेना चाहिये कि प्रभुकी इच्छासे ही ऐसा हुआ है। अवश्य ही व्यवहारमें प्रतिकूल परिस्थिति प्राप्त होनेपर ऐसा मन हो जाना कठिन है, किंतु भगवद्दयाका आश्रय करके यदि आप चेष्टा करेंगे तो ऐसा हो जाना कोई बड़ी बात भी नहीं है। यह केवल हम मानते हों, ऐसी बात नहीं है। वस्तुतः यह सिद्धान्त है- कि जो कुछ भी प्रतिकूलता प्राप्त होती है, उसमें भी श्रीकृपामय भगवान्‌का हाथ है और उसका परिणाम मङ्गल ही होगा। अगर किसी प्रकार मनुष्य यह विश्वास कर सके तो उसकी सारी चिन्ता छूट जाय और फिर उसके द्वारा केवल भजन होगा। देखें, मनुष्यके न चाहनेपर भी प्रतिकूलता तो आती ही है। प्रारब्धमें यदि प्रतिकूलता है तो आकर ही रहेगी। फिर उसके लिये चिन्ता करना व्यर्थ है।

मेरे मनमें आप सबके लिये यही भाव उत्पन्न होता है कि जिनकी अहैतुकी कृपासे आपलोगोंकी इस ओर प्रवृत्ति हुई है, वे ही भगवान् शेष बचा हुआ कार्य भी आपके द्वारा पूरा करवा लेंगे। देखें, हमलोगोंमें अनन्त त्रुटियाँ हैं। यह बात बिल्कुल ठीक है कि हमलोग अभी पग-पगपर फिसल जाते हैं, बहुत मामूली जागतिक प्रलोभन ईश्वरकी अपेक्षा अधिक आकर्षक सिद्ध होता है। यह बात होते हुए भी दयामयकी कृपाका पलड़ा ही भारी रहेगा और हमलोग सभी उस कृपाका सहारा लेकर इस भव-समुद्रसे तर जायँगे; केवल तरेंगे ही नहीं, उनका दिव्य प्रेम प्राप्त करेंगे।

भगवान् हमें जैसे रखना चाहते हैं, उसी प्रकार रहकर जीवन बिताते चलें। जितनी तत्परतासे ले सकें, उतनी तत्परतासे अधिक-से-अधिक उनका नाम लेते रहें। वस्तुतः हम कलियुगी प्राणियोंसे प्रभु और कुछ आशा रखते भी नहीं। सारी कमी वे पूरी कर देंगे, यह विश्वास रखें—**'योगक्षेमं वहाम्यहम्'**।

भगवान् और भक्तका सम्बन्ध बड़ा मधुर होता है

आपने लिखा कि कर्मोंका फल तो भोगना ही पड़ता है—यह बिल्कुल ठीक है; किंतु इसके साथ अपवाद भी है। जिस प्रकार किसी अपराधीको हाईकोर्टने फाँसीकी सजा दे दी है, उस सजाको कोई रोक नहीं सकता; पर यदि बादशाह या उस राज्यका सर्वोच्च अधिकारी चाहें तो उसकी सजा बदल सकते हैं, उसे बिल्कुल माफ भी कर सकते हैं; यही नहीं, ऐसी घटनाएँ कितनी ही बार हो चुकी हैं; उसी प्रकार कर्मोंके फलको भगवान् चाहें तो भोगनेसे किसीको बिल्कुल बरी कर सकते हैं। अवश्य ही भगवान्‌का भक्त यह चाहता नहीं। किसी दिन भगवत्कृपासे ही आप समझ पायेंगे कि वस्तुतः भगवान् और भक्तका सम्बन्ध कितना मधुर होता है। हमारी कल्पना इस जगत्‌को देखकर उसीके आधारपर भगवान्‌के विषयमें निर्णय देती है। पर उसका यह निर्णय वस्तुतः बिल्कुल गलत है। भैया! भगवान् कितने दयालु हैं, यह बात तबतक हमारी धारणामें आ ही नहीं सकती, जबतक

वे स्वयं समझा न दें। अवश्य ही न समझनेपर भी वस्तुस्थिति तो यह है ही कि हम सभी उनके अहैतुक दयाप्रवाहमें ही बह रहे हैं और उनके पास अपने-आप पहुँच जायँगे। आपलोगोंके जीवनको विचारता हूँ तो यही प्रतीत होता है कि जिस दिन आप इस दयाका अनुभव करेंगे, उस दिन मुग्ध हो जायँगे। भगवान्‌ने कहाँसे लाकर आपलोगोंको कहाँ रक्खा है और कहाँ ले जा रहे हैं, यह बात अभी समझमें न आनेपर भी अगर विश्वास कर सकें तो निरन्तर ध्यानमें रखनेकी चेष्टा करें कि अबतक आपका किंचित् भी अमङ्गल नहीं हुआ है और न आगे होगा। मैं इस बातको किसीको तर्कसे समझा नहीं सकता; लेकिन सभीसे प्रार्थना कर सकता हूँ कि सभी अधिक-से-अधिक इसपर विश्वास करें।

किसी भी परिस्थितिमें चिन्ता बिल्कुल न हो।

सकाम उपासना करनेवालेको भी भगवत्प्रेम प्राप्त होता है

महाप्रभु चैतन्यने कहा है—'जिस तरह नदीके प्रवाहमें अनन्तकालसे बहता हुआ कोई तिनका किनारे लग जाता है, वैसे ही अनादिकालसे संसारकी नाना योनियोंमें भ्रमण करता हुआ कोई जीव किसी अत्यन्त भाग्यबलसे निस्तार पा जाता है।' श्रीमद्भागवतमें भी ठीक इसी प्रकारका भाव व्यक्त किया गया है—

मैवं ममाधमस्यापि स्यादेवाच्युतदर्शनम्।
ह्रियमाणः कालनद्या क्वचित्तरति कश्चन॥
(१०।३८।५)

'हे विभो! निरभिमानी पुरुष केवल आपके चरणोंकी सेवा ही आपसे माँगते हैं, सो मैं भी वही वर आपसे माँगता हूँ, और कोई भी वासना मुझे नहीं है। हे हरि! जो मुक्ति देनेवाले आप हैं, उनको आराधना-द्वारा प्रसन्न करके कौन विवेकी पुरुष, जिनसे आत्माका बन्धन हो, वे भोग आपसे माँगेगा? अथवा यह विचार करना भूल है। यद्यपि मैं अधम हूँ, तथापि अच्युतके दर्शन मुझे प्राप्त ही होंगे। जैसे नदीमें बह रहे तृणोंमें कोई तृण किनारे लग जाते हैं, वैसे ही कालके प्रवाहमें कर्मवश बह रहे जीवोंमें कोई जीव कभी पार पहुँच जाते हैं। अतएव कृष्णका दर्शन मिलना और उसके द्वारा संसारके पार पहुँच जाना मेरे लिये असम्भव भी नहीं है।'

आगे प्रभु कहते हैं कि उन निस्तार पानेवालोंके निम्न लक्षण जान लेने चाहिये—'किसी पुण्य-बलसे जब किसीके संसारका अन्त होनेवाला होता है—जिसका निस्तार निश्चित हो जाता है, उसे साधु-सङ्गकी प्राप्ति होती है और उसके फलस्वरूप उसकी श्रीकृष्णमें रति उत्पन्न होती है।' भागवतमें राजा मुचुकुन्द भी श्रीभगवान्‌से यही कहते हैं—

भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवे-
ज्जनस्य तर्ह्यच्युत सत्समागमः।
सत्संगमो यर्हि तदैव सद्गतौ
परावरेशे त्वयि जायते मतिः॥
(१०।५१।५४)

उपर्युक्त बातोंसे सहजमें ही समझा जा सकता है कि दयामयकी आपपर कितनी कृपा है। आप अपने जीवनकी समस्त घटनाओंको आदिसे अन्ततक एक बारके लिये विचारकर देखें। भगवान्‌ने आपको कहाँसे लाकर कहाँ रखा है। आप अपनेको हीन समझते हुए भी, 'भगवान्‌की कृपाका पात्र हूँ'—यह समझकर, अत्यन्त भाग्यशाली भी समझकर देखें। हमलोगों-जैसे संसारमें करोड़ों मनुष्य हैं, किंतु कितनोंके पास सच्ची या झूठी भगवान्‌से मिलनेकी इच्छामात्र भी है।

आपमें यह इच्छा तो हो गयी है कि प्रभुके पास पहुँचूँ। यह क्या कम है? जहाँतक मेरा अनुमान है, आपकी उपासना भगवत्प्रेमके लिये ही है। अपनी प्रार्थनामें भी आप भगवान्से भक्तिकी ही याचना करते होंगे। यदि आपकी उपासना किसी अंशमें सकाम भी होगी, तो भी आपको भगवत्प्रेम मिलेगा।

चैतन्य महाप्रभुने कहा है—

अन्यकामी यदि करे कृष्णेर भजन,
कृष्ण तारे देन स्वचरण॥
कृष्ण कहे आमाय भजे, मागे विषय-सुख,
अमृत छाँड़ि माँगे विष, एइ बड़ मूर्ख।
आमि विज्ञ एइ मूर्खे विषय सुख केन दिव
तव चरन दिया विषय-सुख भुलाइब॥

अर्थात् सकाम भावसे भी कोई कृष्णका भजन करता है तो भी कृष्ण तो उसको अपना चरण ही देते हैं। श्रीकृष्ण सोचते हैं कि यह मेरा भजन तो करता है, पर माँगता है विषय-सुख—अमृतका परित्याग कर विष लेना चाहता है। ओहो! यह बड़ा मूर्ख है। किंतु मैं तो मूर्ख नहीं हूँ, मैं तो सब कुछ जानता हूँ; मैं इसे विषय-सुख देकर ठगनेका काम क्यों करूँ, मैं तो इसे अपना चरण देकर इसका विषय-सुख भुलाते हुए इसके अंदर सच्चा अनुराग उत्पन्न करूँगा।

अधिक-से-अधिक भगवान्का नाम लिया करें

भगवान् आज भी अपने भक्तोंको उनके भावनानुसार कृतार्थ करनेके लिये तैयार हैं। निष्काम भक्तोंको प्रेमदान एवं दर्शनोंके द्वारा तथा सकाम भक्तोंको उनकी वाञ्छित वस्तु देकर भगवान् आज भी कृतार्थ करते हैं। हमारा विश्वास उठ गया है, जिसके कारण हमलोगोंकी तबाही है। भगवान्पर श्रद्धा नहीं रही, अन्यथा भगवान् बिना किसी भेद-भावके सबको स्वीकार कर सकते हैं। इसीलिये मैं बारंबार आपलोगोंसे एक ही प्रार्थना किया करता हूँ कि अधिक-से-अधिक भगवान्का नाम लिया करें। बड़े-बड़े संत-महात्माओंका यह अनुभव है कि जो जितना अधिक भजन करेगा, वह उतनी ही शीघ्रतासे भगवान्की ओर बढ़ेगा। भगवान्में श्रद्धा-प्रेम होकर जल्दी-से-जल्दी उन्हें प्राप्त किया जा सके, इसका एकमात्र उपाय इस युगके लिये है—नामका आश्रय। इसलिये फिर भी यही प्रार्थना है कि चाहे हठसे ही क्यों न हो, वाणीका संयम कर और आवश्यकताभर बोलनेके बाद बाकीका सब समय नाम-जपमें लगायें। जैसे-जैसे अन्तःकरण पवित्र होगा, वैसे-वैसे अपने-आप भजनमें प्रेम होने लगेगा। भजन प्यारा लग जानेपर फिर भजनके लिये चेष्टा नहीं करनी पड़ेगी, अपने-आप भजन होगा। जबतक ऐसा न हो, तबतक हठसे, विचारसे—जैसे भी हो, अधिक-से-अधिक नाम जपें। भगवान्की कृपा आपके साथ है। आपलोग चाहेंगे तो भगवान्की ही कृपासे भजन अवश्य कर सकेंगे। देखें, भगवान् केवल कहने-सुननेकी वस्तु नहीं हैं। सचमुच साधनाका क्रियात्मक प्रयोग करके उन्हें प्राप्त करनेमें ही जीवनकी सार्थकता है। यहाँ केवल सार वस्तु भगवान् ही हैं। भगवान्के लिये ही परिवार, बन्धु, भाई—सब हों। भगवान्के मार्गमें रोकनेवाली सभी वस्तुएँ सर्वथा त्याज्य हैं—

जाके प्रिय न राम बैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही॥

गांधी-जीवन-सूत्र

[आहारमें स्वाद क्यों ?]

(लेखक—श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

हरी-हरी चटनी।

गांधीजीने अपने बगलमें बैठाये महाराजकुमार विजयानगरम्‌की थालीमें अपनी थालीसे उठाकर थोड़ी-सी चटनी परोस दी।

आश्रममें जब विशिष्ट अतिथि आते थे, तब गांधीजी उन्हें अपने बगलमें बैठाते थे और कोई विशेष चीज बनी होती तो उसे बहुत प्रेमपूर्वक परोसते थे। महाराजकुमारने चटनी देखी तो सहज ही उसका बड़ा-सा कौर उठाकर गपसे मुँहमें रख लिया।

पर यह क्या ?

जीभने जैसे ही उस चटनीको छुआ कि बेचारी बड़े असमञ्जसमें पड़ गयी। न भीतर ले जाते बनता था न बाहर उगलते बनता था।

'भइ गति साँप छुछुंदरि केरी।'

नीमके पत्तोंकी चटनी थी वह !

बात है सन् १९४० की।

व्यक्तिगत सत्याग्रहके जमानेकी। काशीसे महाराजकुमार विजयानगरम् गये थे गांधीजीसे व्यक्तिगत सत्याग्रहके लिये अनुमति लेने। उसी समयकी यह घटना है। 'नेशनल हेरल्ड' में अपने संस्मरण लिखते हुए महाराजकुमारने कहा कि 'अजीब सकतेकी हालत थी मेरी। उगलूँ भी तो कैसे ? गांधीजी-जैसे महापुरुषका प्रसाद। और भीतर भी ले जाऊँ तो कैसे ? ऐसी कड़वी चीज भीतर ले जानेकी आदी जीभ कभी थी ही नहीं।'

पर गांधीजीका तो सूत्र ही था—आहारमें स्वाद क्यों ? भोजनमें हमें अस्वाद-व्रतका पालन करना चाहिये।

व्रतोंकी श्रेणीमें गांधीजीने अस्वाद-व्रतको विशिष्ट स्थान दे रखा था। उनका कहना था कि 'ब्रह्मचर्यका पालन करना हो तो स्वादेन्द्रियपर प्रभुत्व प्राप्त करना ही चाहिये। मैंने स्वयं अनुभव किया है कि यदि स्वादको जीत लिया तो ब्रह्मचर्यका पालन बहुत सरल हो जाता है।'

× × ×

स्वामी चरणदास कहते हैं—

कुटिल जो इंद्री जीभ की, चाहै खटरस-स्वाद।
या बस होइ औगुन करै, जन्म जाय बरबाद॥
जिह्वा के जीते विना गए जन्म सब हार।
'चरनदास' यों कहत हैं, गए जगत में ख्वार॥
बनसी डारी तालु में, मछरी लागी आय।
जिह्वा कारन जिव दियो, तलफ-तलफ मरि जाय॥
तजा न जिह्वा-स्वाद कूँ वा सँग दीन्हे प्रान।
जो कोइ ऐसा जगत में, सो अज्ञानी जान॥
विना स्वाद ही खाइये राम-भजन के हेत।
'चरनदास' कहै सूरमाँ, ऐसे जीतै खेत॥
जिन जीता है जीभ कूँ, तिन जीती सब देह।
कहैं गुरू सुकदेवजी, मुक्तिधाम-फल लेह॥
रसना जीतै भक्त जो, सो जोगी, सो साध।
अगम पंथ वह पग धरै, पहुँचै देश अगाध॥

जीभका यह स्वाद मनुष्यको कितना गिराता है, उसका चरणदास महाराजने एक उदाहरण भी दिया है—

एक तपा बन में जा रहा। सीत-उष्न-पावस सिर सहा॥
सूखे पातों किया अहारा। छूटे सब ही जग-ब्यवहारा॥

एक बार एक राजा आया उसके दर्शनोंको। तपस्वी ध्यानमग्न था। उसने राजाका कोई सम्मान नहीं किया—

जो हरि के रँग में रँगे, भूपन सौं क्या काम।
'चरनदास' कुछ भय नहीं, ना कुछ चहिये दाम॥

राजा ऐंठ गया। सोचा, 'इतना अहंकारी ! मुझसे बोलातक नहीं !'

राजाका 'अहं' फुफकारने लगा। 'इसे गिराना चाहिये। बड़ा तपस्वी बनता है !'

इशारेकी देर थी। दरबारकी वेश्याने बीड़ा उठाया तपस्वीकी फजीहतका। बाँदीको भेजकर उसने पता लगाया कि कैसे रहता है तपस्वी।

झाड़ै जा, मुख धोय कै, फिरि तलाव में न्हाय।
'चरनदास' फल-पात जो गिरे-पड़े ही खाय॥

ऐसे निरपेक्ष व्यक्तिको गिराना आसान बात तो है नहीं। पर वेश्या तो वेश्या। राजाको प्रसन्न करना है।

भोजनका थाल सजाकर वह पहुँची तपस्वीके पास। ध्यानसे उसने आँखें खोलीं तो वेश्याने प्रणाम करके थाल उसके आगे बढ़ा दिया। कहा—'महाराज! मेरे कोई पुत्र नहीं, इसीसे दर्शनको आयी हूँ। मेरी यह भेंट स्वीकार करनेकी कृपा करें।'

तपस्वीने न तो भोजन लिया न उससे कोई बात की।

वेश्या फिर पहुँची दूसरे दिन। फिर भोजनका थाल बढ़ाया। तपस्वी बोला—'मैं तो सूखे फल-पत्ते खाता हूँ। मुझे नहीं चाहिये यह सब भोजन।'

पातुरि कहै, दूर सूँ आई। तुम तो दयावंत, सुखदाई॥
यही मान मेरौ तुम राखौ। बहुत नहीं, अँगुली भर चाखौ॥

उसके बार-बार आग्रह करनेपर तपस्वीने भोजनमें अँगुली डालकर चख लिया एकाध अँगुलीभर!

तपस्वीको स्वाद लग गया और उधर वेश्या चार दिन गायब हो गयी।

पाँचवें दिन पहुँची तो तपस्वीने खुद पूछा—'इतने दिन तू कहाँ रही?'

वेश्याने समझ लिया कि उसका जादू काम कर गया। उस दिन वह भोजन भी नहीं ले गयी थी। बोली—'घर-पर ठाकुरजीकी सेवा करती हूँ। नाना प्रकारके भोग लगाती हूँ। कहिये तो आपके लिये प्रसाद ले आऊँ?'

तपसी कूँ जीतन कियौ, टेक बाँधि करि बाद।
हौरै हौरै लायहूँ या जिह्वा के स्वाद॥
नाना विध के स्वाद करि लै गइ वाही पास।
कह्यौ कि यह परसाद है, लीजै कोई ग्रास॥

अब क्या था!

कछूक पातुरि बचन सुनायो। कछूक तपसी के मन आयो॥
डारो हाथ थार के माँहीं। ज्यों-ज्यों खात, सराहत जाहीं॥

फिर तो यह क्रम ही चल पड़ा।

रसना-स्वादहि बस किये मन में जीतन बाद।
कभी आप, बाँदी कभी, पहुँचायो परसाद॥

कहावत है कि उँगली पकड़कर पहुँचा पकड़ लिया जाता है।

एक दिनाँ पातुरि ह्वाँ गई। हाथ जोरि भाषत यों भई।
कह्यो कि मेरे भवन पधारो। करो पवित्तर जूँठनि डारो॥
लावन की बहु बात बनाई। सो तपसी के मन नहिं भाई॥
छाँड़ रही, रोना सो कीन्हो। तपसी को मन बस करि लीन्हो॥
दूजे रस की कला दिखाई। मोह बढ़ो अरु आँख लजाई॥
भोर भएँ फिर बात सुनाई। छल-बल करि घरहीं लै आई॥
घर में ला बहु सुख दिया, दिना आठ ही राखि॥
तपसी हू वा बस भयो, पाँचन सूँ रस चाखि॥

उसके बाद एक दिन—

पाछें तपसी, आगें बाला। ऐसें राज-दुआरे चाला॥
जा, राजा कूँ दई असीसा। राजा बैठे, नायो सीसा॥
हँसि करि कही जु किरपा कीन्ही। यह नगरी अपनी करि लीन्ही॥
घर बैठे हम दरसन पाए। वे धन हैं, जो तुमको जाए॥
एक दिनाँ हम तुम ढिंग धाए। बन में तुम्हरे दरसन पाए॥
ठाड़ रह्यो हौं बहुती बारा। ना तुम बोले, नैन उघारा॥
आज द्यौस ऐसा हद कीन्हा। छाँई आ तुम दरसन दीन्हा॥
यह सुनि तपसी सोचि बिचारा। तबहीं पातुरि सूँ भयो न्यारा॥
बेगहि उठि जंगल को गया। चरनदास कहैं, रमता भया॥

जो इंद्रिन के बस भयो यही हाल ह्वै जाय।
पछतावा मन में रहै, करै हाय दुख हाय॥

× × ×

जीभका चटोरापन असंख्य अनर्थोंको जन्म देता है। इसके चलते मनुष्य कौन-सा जघन्य पाप नहीं करता? स्वादकी लालसा मनुष्यको पतनके गड्ढेमें ढकेले बिना नहीं रहती। स्वादेन्द्रियको खुली छूट दी नहीं कि एक-एक इन्द्रिय उसके पीछे चलती जायगी और मनुष्य अपनेको नरककी अन्तिम सीढ़ीपर खड़ा पायेगा।

गांधीजीने इस तथ्यकी भलीभाँति अनुभूति की थी। वे अफ्रीकामें थे, तभी "Indian Opinion" नामक अंग्रेजी पत्रिकामें उन्होंने आरोग्य-साधन-सम्बन्धी लेखमाला शुरू की थी। उसमें आहारका वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा था—

'लाखमें निन्यानबे हजार, नौ सौ निन्यानबे मनुष्य तो केवल स्वादके लिये खाते हैं। वे इसकी परवा नहीं करते कि खानेके बाद बीमार पड़ जायँगे या अच्छे रहेंगे। बहुतेरे लोग खूब खा सकनेके लिये जुलाबें लेते या पाचक चूर्ण फाँकते रहते हैं। कुछ लोग स्वादिष्ट चीजें ठूँस-ठूँसकर पेटमें भर लेते और खानेके पीछे कै करके फिर उन चीजोंके खानेके लिये तैयार हो जाते हैं। कुछका यह ढंग होता है कि दो-दो दिनतक भूख नहीं लगती। कुछ लापरवाहीसे खाते-खाते मरतेतक देखे गये हैं। ये सब बातें मैंने अपनी आँखों देखी है।

'मैंने अपनी ही जिंदगीमें बहुत-से हेर-फेर देखे हैं। बहुत कामोंकी याद आनेसे हँसी आती है और बहुतोंको याद करके शरमाना पड़ता है। एक समय था, जब मैं सबेरे चाय पीता, दो-तीन घंटेके बाद नाश्ता करता, एक बजे भोजन करता, फिर तीन बजे चाय पीता और अन्तमें ६-७ बजेके बीच फिर पूरा भोजन करता। उस समय मेरी दशा बहुतही करुणाजनक थी। शरीरपर दूषित मांस खूब लदा रहता था। दवाकी बोतल हमेशा पास रहती। खूब खा सकनेके लिये प्रायः जुलाब लेता और उसके बाद ताकतके लिये कई दवाइयाँ पीता। इस तरहका जीवन करुणाजनक है और गम्भीरतासे विचार करें तो उसे अधम, पापपूर्ण और धिक्कारयोग्य समझना चाहिये।

'पशु-पक्षियोंको देखिये। वे स्वादके लिये नहीं खाते। ठूँस-ठूँसकर पेट नहीं भरते। भूख लगनेपर भूखभर ही खाते हैं। भोजन पकाते नहीं, प्रकृतिके तैयार किये हुए भोजनसे अपना हिस्सा ले लेते हैं। क्या मनुष्य ही स्वादके लिये पैदा हुआ है? उन (मनुष्य कहलानेवाले) जानवरोंमें गरीब और अमीर—कोई-कोई दिनमें दस दफे खानेवाले और कोई-कोई एक बार भी न खानेवाले दिखलायी पड़ते हैं। ये बातें सिर्फ मनुष्य-जातिमें हैं। फिर भी हमें जानवरोंसे अधिक बुद्धिमान् होनेका घमंड है। इससे सिद्ध होता है कि यदि हम पेटको परमेश्वर मानकर उसकी पूजामें जिंदगी बितायें तो हम पशु-पक्षियोंसे भी अधिक बे-समझ और बदतर हैं।

'भलीभाँति विचार करनेसे मालूम होगा कि झूठ, चोरी और धोखा आदि पापोंका मुख्य कारण हमारी स्वादेन्द्रियकी स्वतन्त्रता ही है। स्वादको वशमें रखनेसे दूसरी बुराइयोंका नाश करना हमारे लिये बहुत आसान हो जा सकता है। लेकिन यहाँ तो हम खूब खाना और स्वादिष्ट पदार्थोंका खाना पाप नहीं मानते।

'चोरी करने, व्यभिचार करने और झूठ बोलनेपर लोग हमसे घृणा करते हैं। इनपर अनेक नीतिग्रन्थ लिखे गये हैं; किंतु जिनकी स्वादेन्द्रिय वशमें नहीं है, उनपर कहीं कुछ नहीं लिखा गया। मानो इस विषयका नीति-अनीतिसे कोई सम्बन्ध ही नहीं है। प्रधान कारण यह है कि सभी एक ही नावपर बैठे हैं। सभी जीभके गुलाम हैं। तब कैसे हम दूसरेकी इस बुराईपर हँस सकते हैं! भला कहीं एक चोर दूसरे चोरके कामपर हँसता है?

'सभ्यलोग चोर, ठग और व्यभिचारी मनुष्यको अपने समाजमें कभी रहने न देंगे; किंतु वे सभ्यताभिमानी लोग साधारण मनुष्यसे सौगुना अधिक स्वाद लेते हैं और इसे बुरा नहीं समझते। आजकल बड़प्पनका अनुमान थालीसे किया जाता है। जैसे डाकुओंके घरमें डाका डालना अपराध नहीं समझा जाता, वैसे ही हम सब स्वादेन्द्रियके गुलाम होनेसे उस गुलामीको बुरी नहीं समझते, उलटे उसमें आनन्द मानते हैं।

'ब्याह-शादीमें हम स्वादके लिये ही भोजन करते—कराते हैं। गमी (मरनी) तकमें स्वादसे नहीं चूकते। त्यौहार आया कि मिठाई-पकवान बनना मामूली बात है। मेहमान आया कि कड़ाही चढ़ी। जब-तब अड़ोसी-पड़ोसी, इष्ट-मित्र, सगे-सम्बन्धी आदिको दावत (गोठ) न देना, अथवा उनके यहाँ दावत न खाना महान् मनहूसियतमें दाखिल है। निमन्त्रितोंको ठूँसकर न खिलानेमें कंजूसी समझी जाती है। छुट्टी पड़ी कि छनी पूड़ी-कचौड़ी। हम माने बैठे हैं कि रविवारको खूब डटकर खानेके लिये हम आजाद हैं। इस प्रकार जो बड़ा दोष है, उसे हमने बड़ी समझदारीका काम समझ रखा है।

'अब दूसरी रीतिसे विचार करिये। हर रोज उतना ही अनाज पैदा होता है, जितना संसारके सब जीवोंके लिये काफी है। तब यदि कोई अपने हिस्सेसे अधिक खा ले, तो दूसरोंके

हिस्सेमें उतनी ही कमी पड़ेगी। राजा-महाराजाओं और बड़े-बड़े सेठ-साहूकारोंकी रसोईमें उनके नौकर-चाकरोंकी आवश्यकतासे कहीं अधिक अन्न पकाया जाता है। यह अधिक अन्न वे दूसरोंके पेटसे लेते हैं। फिर, भला, दूसरे गरीब क्यों न भूखों मरें।'

× × ×

स्वादकी दृष्टिसे हम यदि भोजन न करें तो यह निर्विवाद है कि बहुत थोड़े आहारसे हमारा काम चल जायगा। पर हमारे जीवनका ढर्रा ही उलटा है। भला वह भी कोई भोजन है, जिसमें स्वादका ध्यान न रखा जाय ? एक-से-एक स्वादिष्ट, एक-से-एक चटपटी, रसीली चीजें हम खोज-खोजकर खाते हैं; फिर भले ही हमारे पेटपर, हमारे स्वास्थ्यपर उसकी कितनी ही बुरी प्रतिक्रिया क्यों न हो !

सन् ३०—३२के सत्याग्रह-आन्दोलनकी बात है। कानपुरकी एक काँग्रेस-कार्यकर्त्री हमारे साथ देहातोंमें घूम रही थीं। दोपहरके भोजनमें रोज मैं देखता कि उन्हें एक अँजुलीभर हरी मिर्चोंकी जरूरत पड़ती थी। हर कौरके साथ वे मिर्चें चबाती चलतीं, भले ही आँखोंसे आँसुओंकी धार बहती रहे !

केवल उन्हींकी यह बात नहीं, हम-आप सभी मिर्च-मसाले खाते हैं, खूब खाते हैं। नतीजा यह होता है कि किसी दिन यदि मिर्च-मसालोंसे रहित भोजन मिले तो वह गलेके नीचे उतरता ही नहीं। भारतकी यह विशेषता अपना सानी नहीं रखती। विदेशियोंको जब हमारी रसोईमें खाना पड़ता है, तब उन बेचारोंकी फजीहत हो जाती है। विनोबाकी पदयात्रामें मैंने अनेक विदेशियोंकी समय-समयपर इस दुर्दशाका दर्शन किया है। संकोचमें बेचारे पत्तलपर किसी तरह उकडूं बैठ तो जाते हैं, पर मिर्च-मसालेसे भरा हमारा भोजन उनके लिये बड़ी कसौटीका काम करता है। उनके मुँहमें छाले पड़ जाते हैं, मेदा खराब हो जाता है। लाचार फल, दूध, केक आदिसे वे काम चलाते हैं।

× × ×

हमारी जीभ ६६ प्रकारके व्यञ्जन माँगती है और हम रात-दिन उसीकी खुशामदमें जुटे रहते हैं। बचपनसे ही हमारे माता-पिता हमें स्वादकी चाट लगा देते हैं। हम भी अपने बच्चोंमें इसी परम्पराका विकास करते चलते हैं। परिणाम हमारी आँखोंके सामने है। हमारी जीभ हमें नाना प्रकारके नाच नचाती है। मजेसे ले-लेकर हम नाना प्रकारके षड्रस व्यञ्जन उदरस्थ करते हैं और फिर भिन्न-भिन्न प्रकारके रोगोंके रूपमें उसका मुआवजा चुकाते हैं। शरीर बर्बाद करते हैं, स्वास्थ्य चौपट करते हैं, इतना ही नहीं, चरित्रको भी नष्ट करनेमें हमें संकोच नहीं होता—

'विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः।'

× × ×

स्वादकी वृत्ति साधनाके क्षेत्रमें बहुत बड़ी बाधा है। 'सवादी' आदमी कभी साधक नहीं बन सकता। जिह्वा-इन्द्रियको वशमें किये बिना न ब्रह्मचर्यकी साधना हो सकती है, न सत्य या अहिंसाकी।

यही कारण है कि गांधीजीने अपने आश्रमके एकादश व्रतोंमें अस्वादको भी व्रतका स्थान दिया था। वे लिखते हैं—

'बचपनसे ही माँ-बाप झूठा लाड़-प्यार करके अनेक प्रकारके स्वाद करा-कराकर शरीरको बिगाड़ देते हैं और जीभको कुत्ती बना देते हैं, जिससे बड़े होनेपर लोग शरीरसे रोगी और स्वादकी दृष्टिसे महाविकारी देखनेमें आते हैं।

'स्वादको बड़े-बड़े मुनिवर भी नहीं जीत सके, इसलिये इस व्रतको पृथक् स्थान नहीं मिला। मेरे अनुभवके अनुसार इस व्रतका पालन करनेमें समर्थ होनेपर ब्रह्मचर्य अर्थात् जननेन्द्रिय-संयम बिल्कुल आसान हो जाता है।'

गांधीजीने अस्वादको अपना जीवनसूत्र बना रखा था। वे स्वयं तो उसका कड़ाईसे पालन करते ही थे, अपने आश्रमवासियोंसे भी इस व्रतका पालन करानेके लिये सचेष्ट रहते थे। आश्रमकी रसोईमें स्वादकी दृष्टिके स्थानपर स्वास्थ्यकी दृष्टि रहती थी। दवाके खानेमें हम इसका विचार नहीं करते कि वह स्वादिष्ट है या कैसी, शरीरको उसकी आवश्यकता समझकर उचित परिमाणमें ही सेवन करते हैं। वही बात अन्नके विषयमें—समस्त खाद्य-पदार्थोंके विषयमें समझनी चाहिये।

हमें सोचना चाहिये कि हमें जीनेके लिये खाना है या खानेके लिये जीना। यदि हमें खानेके लिये जीना है, तब तो हमारे जीवनकी जो पद्धति चल रही है, स्वादकी जिस दौड़में हम पड़े हैं, उसे ठीक ही मानना चाहिये।

फिर न हमें बीमारीसे घबराना चाहिये, न डाक्टरों-वैद्योंसे। खूब डटकर स्वाद ले-लेकर खाइये और फिर पड़िये बीमार! पर यदि हम इसे गलत समझते हैं और जीनेके लिये खाना चाहते हैं तो कबीरदासकी इस चेतावनीको याद रखना चाहिये—

कबिर छुधा है कूकरी, करत भजनमें भंग।
या को टुकरा डारि कै, भजन करौ निस्संक॥

क्षुधापूर्तिके लिये टुकड़ा फेंक दीजिये। शरीर-रक्षणके लिये जितना आवश्यक है, उतना पौष्टिक और संतुलित भोजन कीजिये। चार कौरकी भूख है तो दो-तीन कौरसे ज्यादा मत लीजिये। इससे शरीर भी स्वस्थ रहेगा, मन भी। वाणीपर भी नियन्त्रण रहेगा, अन्य इन्द्रियोंपर भी। स्फूर्ति भी रहेगी, नैतिकता और सदाचार भी रहेगा। पर इसके लिये हमें कड़ी साधना करनी पड़ेगी अस्वादकी।

× × ×

वह कैसे!

पंजाबके एक संतकी आप-बीती है।

एक दिन किसी गाँवमें एक गृहस्थने उन्हें महेरी खिलायी।

बाबाजीको बहुत अच्छी लगी।

बोले—'बेटा! तेरी महेरी बड़ी स्वादिष्ट बनी है। कल भी बनाना और कुछ ज्यादा मात्रामें बनाना।'

'बहुत अच्छा, महाराज! आपके आशीर्वादसे क्या कमी है! भैंसें दूध देती हैं, फसल भी खूब होती है। महेरीमें क्या लगता है! कल आप पधारिये। खूब खाइये जी भरकर महेरी।'—किसान बोला।

दूसरे दिन बाबाजी पहुँचे तो गृहस्थ किसानने एक नाँद-भर महेरी बनवा रखी थी।

बड़े खुश हुए। लगे बैठकर महेरी खाने।

पेटके कोटरकी भी तो एक सीमा है। कहाँतक भरेगा इस थैलीमें। पर बाबाजी थे कि पेटमें महेरी डालते चले जा रहे थे।

आखिर पेटने इन्कार कर दिया।

नौबत यह आ गयी कि कै होने लगी।

पर बाबाजी महेरी पेटमें उड़ेलते जा रहे थे—'ले और खा, जीभ निगोड़ी! और माँगेगी महेरी?'

× × ×

अभी उस दिन लल्लू दादा भी एक ऐसी ही घटना सुना रहे थे।

एक बाबाजी उनके पास पहुँचे। बोले—'बेटा! पेड़े खाना चाहता हूँ।'

'बहुत अच्छा, महाराज!'

सस्तीका जमाना था। उन्होंने पावभर पेड़े मँगवा दिये।

बाबाजीने पेड़े खाकर फिर कहा—'बच्चा! पावभर पेड़े और मँगवा दे।'

बाबाजी पेड़े खाते गये। दादा मँगवाते गये। बीच-बीचमें अपने-आपसे बाबाजी कहते जाते थे—'ले, और खायेगा?'

अन्तमें उनकी आँखें लाल-लाल हो उठीं, पर पेड़े खाना चालू था। होते-होते उन्हें भी कै हो गयी!

और उसके बाद वे लल्लू दादाको आशीर्वाद देकर चल दिये।

× × ×

एक और उदाहरण लीजिये।

महाराष्ट्रके एक विख्यात नेता थे। एक दिन उनकी पत्नीने उन्हें बहुत अच्छा मीठा आम काटकर खानेके लिये दिया।

उन्होंने सिर्फ एक फाँक खायी, उसके बाद हाथ रोक लिया। पत्नीने पूछा—'क्यों, क्या बात है? आम स्वादिष्ट नहीं है?'

'स्वादिष्ट है, इसीलिये तो खाना बंद कर दिया।'

'यह कैसी उलटी बात?'

'इसकी एक कहानी है। बचपनमें पूनामें मैं जिस मकानमें रहता था, उसके बगलमें एक महिला रहती थी। उस बेचारीने सम्पन्नताके दिन देखे थे, पर उन दिनों वह बड़ी गरीबीमें गुजर कर रही थी। उसे पुरानी

आदत थी, चार-चार, छः-छः साग-तरकारियाँ खानेकी, नाना प्रकारकी चीजें खानेकी, पर इस आर्थिक तंगीमें कहाँसे लाती। इसलिये वह सुबहसे शामतक इसी प्रसङ्गको लेकर झींकती रहती। तभीसे मैंने सोचा कि मुझे यदि इस दुर्दशासे बचना है तो उसका उपाय यही है कि जो चीज जीभको स्वादिष्ट लगे, उसे कम-से-कम खाना।'

× × ×

हमें यदि पवित्र जीवन बिताना है, हमें यदि गरीबोंके साथ हमदर्दी है, हम यदि शुद्ध कमाईका शुद्ध अन्न खाना चाहते हैं, हम यदि दूसरोंको उनके अंशसे वञ्चित नहीं करना चाहते तो हमें अपने आहारपर नियन्त्रण रखना ही होगा। इस बातमें तो कोई संदेह है ही नहीं कि स्वादके चलते हम न तो शारीरिक दृष्टिसे स्वस्थ रह सकते हैं, न मानसिक दृष्टिसे और न चारित्रिक दृष्टिसे ही।

उसका तो साधन यही है कि हम जो भी आहार लें, वह शुद्ध हो, पवित्र हो। हम केवल उतना ही आहार लें, जितना हमारे शरीरके रक्षणके लिये अनिवार्य हो। जहाँ स्वादकी दृष्टिसे भोजन किया कि हमने मर्यादाका अतिक्रमण किया।

अस्वाद-व्रतकी साधना ही शारीरिक, मानसिक और चारित्रिक स्वास्थ्यका एकमात्र उपाय है। इसके द्वारा केवल जीभ ही नहीं, अन्य सारी इन्द्रियाँ भी सहज ही हमारे वशमें हो सकेंगी।

गांधीजी कहते हैं—'अस्वाद-व्रतका महत्त्व समझ लेनेपर हमें उसके पालनके लिये नया प्रयत्न करना चाहिये। इसके लिये चौबीसों घंटे खानेके बारेमें ही सोचनेकी जरूरत नहीं। सिर्फ सावधानीकी, जागृतिकी पूरी आवश्यकता है। ऐसा करनेसे थोड़े ही समयमें हमें मालूम हो जायगा कि हम कब स्वादके फेरमें पड़ते हैं और कब शरीर-पोषणके लिये खाते हैं। यह मालूम हो जानेपर हमें दृढ़तापूर्वक स्वादको घटाते ही जाना चाहिये।'

× × ×

अन्न तो ब्रह्म है। वामनपण्डितके अनुसार—

जीवन-शक्तिदाता अन्नहि पूर्णब्रह्म।
उदर-भरण तुहे जाणए यज्ञकर्म॥

उदरपूर्तिको हम यज्ञ-कर्म मान लें और पूरी जागरूकतासे प्रतिदिन इस यज्ञकर्मको करते चलें तो सहज ही हम अस्वाद-व्रतकी साधनामें सफल हो सकेंगे।

तुलसीदासने भक्तके लक्षणोंमें कहा है—

प्रभु प्रसाद सुचि सुभग सुबासा। सादर जासु लहइ नित नासा॥
तुम्हहि निवेदित भोजन करहीं। प्रभु प्रसाद पट भूषन धरहीं॥
(मानस २। १२८। १)

भक्त तो थालीमें सामने आये हुए भोजनको प्रभुका प्रसाद मानता है। प्रभु-चरणोंमें उसे निवेदित कर देता है—

'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।'

यह जो कुछ है, हे प्रभु! तेरा प्रसाद है। प्रसादमें मीठा और सलोना क्या रे!

आइये, हम भी अस्वादका व्रत लेकर आहारको भगवान्‌का प्रसाद मानकर ग्रहण करें।

छार ऐसे जीबे पै

रुचिकर सँवारे नाहिं अंग-अंग स्यामा-स्याम,
आली धिक्कार और नाना कर्म कीवे पै।
पायनि कौं धोय निज कर तैं न पान कियौ,
आली अंगार गिरै सीतल जल पीवे पै॥
विचरे न बृंदावन कुंजनि लतानि तरें,
गाज परै अन्य फुलवारी-सुख लीवे पै।
'ललित-किसोरी' बीते बरस अनेक, दृग
देखे नहिं प्रानप्यारे, छार ऐसे जीवे पै॥

प्रार्थना

तुम मेरे हो—मेरे अपने हो!

मेरे बन्धु!

तुम मेरे हो—मेरे अपने, अतिशय अपने हो। अपनेसे-भी-अपने हो तुम! एकमात्र मेरे अपने हो तुम!

तुमसे मेरी यह ममता कितनी मधुर है! यह मदीयता कितनी स्निग्ध है! तुम्हारा-मेरा यह नाता कितना सुखद है कि तुम मेरे हो—मेरे एकमात्र अपने हो!

तुम्हारे और मेरे नातेकी मधुरता जगत्‌के किसी भी नातेसे व्यक्त हो ही नहीं सकती। जगत्‌के सभी नाते अधूरे हैं, एकाङ्गी हैं, परिमित हैं। जो अपनेसे भी अपना है, उसके साथ अपना नाता किन शब्दोंसे प्रकट हो? इतना ही कहना बनता है—तुम मेरी आत्मा हो, तुम मेरे हो—मेरे अत्यन्त अपने हो।

मेरे सब प्रकारसे रीते जीवनकी कोई उपलब्धि है तो वह तुम हो। मुझ परम रङ्ककी कोई सम्पत्ति है तो वह तुम हो। तुम्हीं मेरी वह अनमोल निधि हो, जिसे पाकर अब मेरे लिये कुछ पाना शेष नहीं रहा। तुमको पाकर मैं कृतार्थ हूँ, आप्तकाम हूँ, पूर्ण हूँ। इहलोक एवं परलोकके मेरे समस्त स्वार्थ एवं परमार्थ सिद्ध हो गये; क्योंकि तुम मेरे हो—मेरे अपने हो।

मेरे बन्धु! तुम्हारे अतिरिक्त मेरा है ही कौन। मैं जो हूँ, जैसा हूँ, जगत् भले ही न जाने, तुम जानते हो ही। मुझे यथार्थरूपसे जानकर भी तुम मेरे हो—मेरे अपने हो, यही तुम्हारा प्रेम है। मेरे अन्तर तथा बाहरकी बीभत्सता कभी भी तुम्हारे अपनत्वमें अन्तर नहीं ला सकी—यही तो तुम्हारा औदार्य है। अपने ही अङ्गको अशुचि और मलसे सना एवं दुर्गन्धयुक्त देखकर क्या कभी कोई उससे घृणा करता है? अपने ही शरीरके किसी अवयवको कभी कोई दण्ड देनेका विचार मनमें लाता है? हम अपने पैरोंको कीचड़से सना पाते ही उन्हें धोकर निर्मल कर लेते हैं, उन्हें उपदेश नहीं करते। इसी रीतिसे मेरे बन्धु! तुम भी मुझे दोषयुक्त देखकर भी अपराधी नहीं गिनते, घिनौना पाकर भी घृणा नहीं करते, अनुचित करता हुआ जानकर भी दण्डनीय नहीं मानते। तुम्हारा स्वभाव है—प्यारसे नहलाकर मुझे निर्मल करते रहना, पतित देखकर मुझे गलेसे लगाते रहना, दुःखी देखकर मुझे मधुर वचनोंसे सान्त्वना देते रहना; क्योंकि तुम मेरे हो—मेरे अत्यन्त अपने हो।

तुम्हीं तो मेरे सुखके स्रोत हो, आनन्दके कोष हो। तुम्हें निहारना ही सुख है, तुम्हें आँखोंसे ओझल करना ही दुःख है। तुम्हारी स्मृति ही अमृत है, विस्मृति ही विष है। तुम्हारा सांनिध्य ही शीतलता है, तुमसे व्यवधान ही ताप है। मैं चेष्टा करके तुमसे बिछुड़ता हूँ, दुःख पाता हूँ; तुम चेष्टा करके मुझे अपनाते हो, अहर्निश मेरा आनन्द-विधान करते हो; क्योंकि तुम मेरे हो—मेरे अत्यन्त अपने हो।

मेरे बन्धु! मैं तुम्हारी महिमाकी इतनी ही बात जानता हूँ कि तुम मेरे हो—मेरे अपने हो। तुम्हारा यश गाने लगता हूँ, तो यही गा पाता हूँ—तुम मेरे हो—मेरे अपने हो। कभी जागते-सोते, जाने-अनजाने मेरे अन्तरकी वीणाके तार झनझना उठते हैं तो उनसे एक ही स्वर झङ्कृत होता है—तुम मेरे हो—मेरे अपने हो। हे अशेषदानी! तुम्हारे अपरिमित दानके बदले मेरे कृतज्ञता-ज्ञापनके केवल दो अस्फुट वाक्य ही मेरे जीवन-कोषमें हैं—'तुम मेरे हो—मेरे अपने हो'।

—तुम्हारा ही एक अपना

भाग्यवान् सम्पाति

(लेखक—पं० श्रीशिवनाथजी दुबे)

भगवान् श्रीरामकी लीलामें वचन-सहाय करनेवाले भाग्यवान् सम्पाति महर्षि कश्यपके पौत्र एवं अरुणके पुत्र थे । श्रीराम-भक्त पक्षिराज जटायु इनके अत्यन्त प्रिय छोटे भाई थे । सम्पाति विशालकाय, अत्यन्त बलवान् तथा दीर्घजीवी थे । उन्होंने स्वयं कहा था—

जानामि वारुणाँल्लोकान् विष्णोस्त्रैविक्रमानपि ।
देवासुरविमर्दांश्च ह्यमृतस्य विमन्थनम् ॥
(वा० रा० ४ । ५८ । १३)

'मैं वरुणके लोकोंको जानता हूँ । वामनावतारके समय भगवान् विष्णुने जहाँ-जहाँ अपने तीन पग रक्खे थे, उन स्थानोंका भी मुझे ज्ञान है । अमृत-मन्थन तथा देवासुर-संग्राम भी मेरी देखी और जानी हुई घटनाएँ हैं ।'

सम्पाति और इनके छोटे भाई शून्यमें अत्यन्त ऊँचाईपर बड़े ही वेगसे उड़ते थे । इतना ही नहीं, ये दोनों भाई इच्छानुसार रूप भी धारण कर लेते थे ।

महर्षि चन्द्रमाने सम्पातिसे कहा था—

गृध्रौ द्वौ दृष्टपूर्वौ मे मातरिश्वसमौ जवे ।
गृध्राणां चैव राजानौ भ्रातरौ कामरूपिणौ ॥
(वा० रा० ४ । ६० । १९)

'मैंने पहले वायुके समान वेगशाली दो गीधोंको देखा है । वे दोनों परस्पर भाई और इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले थे । साथ ही वे गीधोंके राजा भी थे ।'

सम्पाति और जटायु मांसभक्षी बलशाली पक्षी होनेके साथ ही अत्यन्त बुद्धिमान्, सरल एवं साधु-महात्माओंके चरणोंमें श्रद्धा रखनेवाले थे । भगवान् और भगवद्भक्त इन्हें अत्यन्त प्रिय थे । अन्याय और अत्याचारको ये सहन नहीं कर सकते थे ।

पर यौवनकालमें ये गर्वोन्मत्त भी हो गये थे । एक बारकी बात है । अपने बल एवं वेगके अभिमानमें इन दोनों भाइयोंने कैलास पर्वतके शिखरपर ऋषियोंके सम्मुख प्रतिद्वन्द्विता की कि 'भगवान् सूर्यदेवके अस्ताचलपर पहुँचनेके पूर्व ही हम दोनों उनके समीप पहुँच जायँ ।'

बस, दोनों महान् पक्षियोंने अपने पंख पसारे और अनन्त आकाशमें पवनकी गतिसे उड़ चले । कुछ ही देरमें वे इतने ऊँचे पहुँच गये, जहाँसे यह धरती, पर्वत, वन, सरिताएँ और समुद्र अत्यन्त छोटे खिलौनेकी तरह दीख रहे थे । फिर भी वे ऊपर अंशुमालीकी ओर उड़ते ही जा रहे थे । दिनमणिकी अग्निमयी तीक्ष्ण किरणोंकी चिन्ता किये बिना वे उनकी ओर बढ़ते ही जा रहे थे । कुछ देर बाद सूर्यदेवकी असह्य गर्मीसे सम्पाति और जटायुको पसीना आने लगा । फिर भी वे ऊपर उड़ते ही गये । पक्षिराज जटायुने देखा कि अब प्राण बचना सम्भव नहीं, अतएव उन्होंने अपना पंख समेटा और नीचेकी ओर चल पड़े; पर महाबलशाली सम्पाति भुवन-भास्करकी ओर उड़ते ही गये । कुछ ही क्षणोंमें सूर्यकी प्रचण्ड किरणोंको सहना उनके लिये सम्भव नहीं रहा । वे मूर्च्छित-से हो गये । उन्हें नेत्रोंसे कुछ दिखायी नहीं देता था । किसी प्रकार धैर्य धारणकर उन्होंने देखा तो दिवाकर भी पृथ्वीके बराबर दीख रहे थे । अपने भाई जटायुको नीचे जाते देख महान् बलशाली सम्पातिने भी सूर्यकी असह्य ज्वालाके कारण उनकी ओर जानेका विचार त्याग दिया और नीचेकी ओर चल पड़े ।

इनके छोटे भाई जटायु इन्हें प्राणप्रिय थे, इस कारण सूर्यदेवकी असह्य ज्वालासे जटायुको बचानेके लिये इन्होंने अपने दोनों पंखोंसे उन्हें ढक लिया । इस प्रकार जटायुकी तो रक्षा हो गयी, किंतु सम्पातिके पंख जलकर भस्म हो गये । वे व्याकुल होकर चीत्कार करते हुए विन्ध्यगिरिपर गिर पड़े[1] और मूर्च्छित हो गये ।

सम्पाति छः दिनोंतक मूर्च्छित ही रहे । इसके बाद जब उनके नेत्र खुले, तब उन्हें कुछ समझमें नहीं आया

---

१. इस घटनाका उल्लेख गोस्वामी तुलसीदासजीने रामचरितमानसके किष्किन्धाकाण्डमें इस प्रकार किया है । सम्पाति कहते हैं—

हम द्वौ बंधु प्रथम तरुनाई । गगन गए रबि निकट उड़ाई ॥
तेज न सहि सक सो फिरि आवा । मै अभिमानी रबि निअरावा ॥
जरे पंख अति तेज अपारा । परेउँ भूमि करि घोर चिकारा ॥
(४ । २७ । १-२)

कि 'मैं कहाँ हूँ !' वे इधर-उधर देखने लगे, पर सहसा किसी वस्तुको पहचान नहीं सके। धीरे-धीरे सर, सरिता, समुद्र, पर्वत एवं विभिन्न प्रदेशोंपर दृष्टि पड़ी तो उन्हें पता चला कि मैं दक्षिण समुद्र-तटपर गिरि-कन्दराओं एवं पशु-पक्षियोंसे भरे विन्ध्यपर्वतपर पड़ा हूँ।

फिर ध्यानपूर्वक भाग्यवान् सम्पातिने देखा कि कुछ ही समीप एक अत्यन्त सुन्दर और पवित्र आश्रम था। वहाँ विविध प्रकारके सुन्दर और सुगन्धित पुष्प खिले थे और वृक्षोंकी डालियाँ फलोंके भारसे झुकी हुई थीं। वहाँ शीतल-मन्द-सुगन्धित बयार बह रही थी। आश्रमके समीप हिंसक जन्तुओंने अपने वैरका स्वभाव त्याग दिया था। वहाँका वातावरण सर्वथा सात्त्विक था और सर्वत्र शान्तिका साम्राज्य था। देवगण भी उस आश्रमका सम्मान करते थे। उस आश्रममें अत्यन्त वीतराग, महान् तेजस्वी एवं प्रभु श्रीरामके अनन्य भक्त महामुनि चन्द्रमा[2] रहते थे। महामुनिके दर्शनार्थ सम्पाति धीरे-धीरे अत्यन्त कष्ट सहकर भी गिरि-शिखरसे नीचे उतरे। वहाँ सर्वत्र तीखे कुश-कण्टक फैले थे। तथापि वे धीरे-धीरे किसी प्रकार उनके आश्रमके समीप पहुँचे। थोड़ी ही देरमें वे परम तेजस्वी मुनि आते हुए दिखलायी दिये। उन्हें देखकर ऋषि अत्यन्त प्रसन्न होकर आश्रममें चले गये और दो ही घड़ीमें फिर सम्पातिके समीप आकर उन्होंने अत्यन्त स्नेहपूर्वक कहा—

सौम्य वैकल्यतां दृष्ट्वा रोम्णां ते नावगम्यते।
अग्निदग्धाविमौ पक्षौ प्राणाश्चापि शरीरके॥
(वा० रा० ४। ६०। १८)

'सौम्य! तुम्हारे रोएँ गिर गये और दोनों पंख जल गये हैं, इसका कारण नहीं जान पड़ता। इतनेपर भी तुम्हारे शरीरमें प्राण टिके हुए हैं।'

कुछ देर बाद उन्होंने फिर कहा—

ज्येष्ठोऽवितस्त्वं सम्पाते जटायुरनुजस्तव।
मानुषं रूपमास्थाय गृह्णीतां चरणौ मम॥
(वा० रा० ४। ६०। २०)

'सम्पाते! मैं तुम्हें पहचान गया। जटायु तुम्हारा छोटा भाई था। तुम दोनों मनुष्यरूप धारण करके मेरा चरण स्पर्श किया करते थे।'

और उन्होंने सम्पातिसे पूछा—'सम्पाते! यह तुम्हें कौन-सा रोग हो गया है? तुम्हारे पंख कैसे गिर गये? तुम्हें किसीने दण्ड तो नहीं दिया? तुम मुझे अपना वृत्तान्त बताओ।'

सम्पातिने अत्यन्त दुःखके साथ महामुनिसे अपनी सारी करतूत सुना दी और उनसे कहा—

अब्रवं मुनिशार्दूलं दह्येऽहं दाववह्निना॥
कथं धारयितुं शक्तो विपक्षो जीवितं प्रभो।
(अ० रा० ४। ८। १०-११)

'अब मैं दावाग्निमें जल मरूँगा; क्योंकि प्रभो! बिना पंखोंके मैं किस प्रकार जीवन धारण कर सकता हूँ।'

सम्पातिका कष्ट देखकर दयामय चन्द्रमा मुनिके नेत्र सजल हो गये और उन्होंने अत्यन्त विस्तारपूर्वक उन्हें समझाया—'देहाभिमानके अभ्याससे जीवको नरकोंकी प्राप्ति एवं गर्भवासादि दुःख होते हैं। इस कारण देहादिकी ममता त्यागकर आत्मज्ञान-प्राप्तिका भरपूर प्रयत्न करना चाहिये। शुद्ध-बुद्ध-शान्तस्वरूप आत्माकी भावना एवं चिदात्माका ज्ञान होनेपर मोह नष्ट हो जाता है, फिर देह रहे या नष्ट हो जाय, इससे ज्ञानीको हर्ष या विषाद नहीं होता।'

तस्माद्देहेन सहितो यावत्प्रारब्धसंक्षयः॥
तावत्तिष्ठ सुखेन त्वं धृतकञ्चुकसर्पवत्।
(अ० रा० ४। ८। ४६-४७)

'अतः जबतक तेरा प्रारब्ध क्षय न हो, तबतक तू केंचुलसहित सर्पके समान आनन्दपूर्वक देह धारण करके रह।'

और दयालु मुनिने उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा—'मैं तेरे परम कल्याणके लिये एक बात और बताता हूँ, तू ध्यानपूर्वक सुन—

त्रेताँ ब्रह्म मनुज तनु धरिही। तासु नारि निसिचर पति हरिही॥
तासु खोज पठइहि प्रभु दूता। तिन्हहि मिलें तैं होब पुनीता॥
(मानस ४। २७। ४)

२. चन्द्रमा महर्षि अत्रिके पुत्र थे। उनका नाम 'आत्रेय' और और 'निशाकर' भी है।

'परब्रह्म परमेश्वर त्रेतायुगमें मनुष्यका शरीर धारण करेंगे। उनकी धर्मपत्नीका निशाचरराज (रावण) हरण करेगा। उनकी खोजमें प्रभु दूत भेजेंगे। उनके मिलनेपर तू पवित्र हो जायगा।' इसके अनन्तर कारुणिक मुनि चन्द्रमाने उनसे और कहा—

सर्वथा तु न गन्तव्यमीदृशः क्व गमिष्यसि।
देशकालौ प्रतीक्षस्व पक्षौ त्वं प्रतिपत्स्यसे॥
उत्सहेयमहं कर्तुमद्यैव त्वां सपक्षकम्।
इहस्थस्त्वं हि लोकानां हितं कार्यं करिष्यसि॥
त्वयापि खलु तत्कार्यं तयोश्च नृपपुत्रयोः।
ब्राह्मणानां गुरूणां च मुनीनां वासवस्य च॥
(वा० रा० ४। ६२। १२–१४)

'यहाँसे किसी तरह कभी दूसरी जगह न जाना। ऐसी दशामें तुम जाओगे भी कहाँ? देश और कालकी प्रतीक्षा करो। तुम्हें फिर नये पंख प्राप्त हो जायँगे[3]। यद्यपि मैं आज ही तुम्हें पंखयुक्त कर सकता हूँ; फिर भी इसलिये ऐसा नहीं करता कि यहाँ रहनेपर तुम संसारके लिये हितकर कार्य कर सकोगे। तुम भी उन दोनों राजकुमारों (श्रीराम-लक्ष्मण) के कार्यमें सहायता करना। वह कार्य केवल उन्हींका नहीं, समस्त ब्राह्मणों, गुरुजनों, मुनियों और देवराज इन्द्रका भी है।'

इस प्रकार विविध प्रकारसे महामुनि चन्द्रमाने सम्पातिको समझाया और भगवान् श्रीरामके कार्यमें सहायक बननेके कारण उनके भाग्यकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। इसके अनन्तर कृपामय चन्द्रमा ऋषि अपने आश्रममें चले गये और भाग्यवान् सम्पाति उक्त शुभ कालकी प्रतीक्षाके लिये धीरे-धीरे विन्ध्यगिरिके शिखरपर पहुँचे।

उक्त पर्वत-शिखरपर पक्षिराज सम्पाति भगवती सीताके दर्शनकी लालसासे अपने दिन व्यतीत करने लगे। कुछ दिनोंके बाद महामुनि चन्द्रमाने अपना भौतिक कलेवर त्याग दिया; इस कारण सम्पाति और अधिक दुःखी रहने लगे। उन्होंने कई बार अपना शरीर त्याग देनेका विचार किया, किंतु प्रत्येक बार उन्होंने महामुनि चन्द्रमाके अमृतमय सदुपदेशोंका स्मरण कर मनमें आया हुआ संकल्प त्याग दिया। इस प्रकार वे अपने प्राणप्रिय भाई जटायुसे बिछुड़कर शारीरिक एवं मानसिक यन्त्रणा सहते हुए अपने दिन व्यतीत कर रहे थे। उन्हें महामुनि आत्रेयके वचनोंपर दृढ़ विश्वास था। इस कारण वे उस क्षणकी निरन्तर प्रतीक्षा कर रहे थे, जब वे पराम्बा भगवती सीताका दर्शन करते एवं निखिलसृष्टिनायक कमलनेत्र श्रीरामके भाग्यशाली दूतोंका दर्शनकर अपना जीवन और जन्म सफल करते। इस प्रकार वहाँ रहते हुए सम्पातिको आठ सहस्र वर्षसे भी अधिक समय व्यतीत हो गया।

अन्ततः वह समय भी आया, जब दयामय नवदूर्वादल-श्याम श्रीराम अवतरित हुए और अपने पिताकी आज्ञाका पालन करनेके लिये वे अपने छोटे भाई लक्ष्मण एवं सहधर्मिणी सीतासहित चौदह वर्षके लिये अरण्यवास करने निकले। दण्डकारण्यमें निशाचरराज लङ्काधिपति रावणने भगवती सीताका छलपूर्वक हरण कर लिया। उन्हें खोजनेके लिये सुग्रीवने वानर-भालुओंको भेजा। हनुमान्, जाम्बवान् और अङ्गद आदि वानर माता सीताको ढूँढ़ते हुए दक्षिण-समुद्रके तटपर महेन्द्रपर्वतकी पवित्र उपत्यकामें पहुँचे।

वहाँ अगाध एवं असीम महासागरकी भयानक लहरोंको देखकर वे घबरा गये। सीतान्वेषणके लिये सुग्रीवकी दी हुई एक मासकी अवधि भी समाप्त हो गयी और सामने महासमुद्र! वीर वानर-भालुओंकी बुद्धि काम नहीं कर रही थी।

सब मिलि कहहिं परस्पर बाता। बिनु सुधि लएँ करब का भ्राता॥
कह अंगद लोचन भरि बारी। दुहुँ प्रकार भइ मृत्यु हमारी॥
इहाँ न सुधि सीता कै पाई। उहाँ गएँ मारिहि कपिराई॥
(मानस ४। २५। १-२)

''सब मिलकर आपसमें यह बात कहते हैं कि—'भाई! सुधि लिये बिना क्या करेंगे? (अर्थात् कोई बचनेका उपाय नहीं सूझता। अवधि बीत गयी, अब तो माता सीताका पता चले, तभी प्राण बच सकेंगे)। अङ्गदने नेत्रोंमें जल

---

३. तदा सीतास्थितिं तेभ्यः कथयस्व यथार्थतः।
तदैव तव पक्षौ द्वावुत्पत्स्येते पुनर्नवौ॥
(अ० रा० ४। ८। ५२)

'तब तू उन्हें सीताजीका ठीक-ठीक पता बतला देना। बस, उसी समय तेरे फिर नये पंख उत्पन्न हो जायँगे।'

'जमिहहिं पंख करसि जनि चिंता। तिन्हहि देखाइ देहेसु तैं सीता॥
(मानस, किष्किन्धा०)

भरकर कहा—'हमारी तो दोनों प्रकारसे मृत्यु हुई। यहाँ श्रीसीताजीकी सुधि नहीं मिली और वहाँ जानेपर कपिराज मारेगा।" वानरराज सुग्रीवके कठोर दण्डकी कल्पना कर वानरोंने कहा—

सुग्रीवस्तीक्ष्णदण्डोऽस्मान्निहन्स्येव न संशयः।
सुग्रीववधतोऽस्माकं श्रेयः प्रायोपवेशनम्॥
इति निश्चित्य तत्रैव दर्भानास्तीर्य सर्वतः।
उपाविविशुस्ते सर्वे मरणे कृतनिश्चयाः॥
(अ० रा० ४। ७। २७-२८)

'राजा सुग्रीव बड़ा दुर्दण्ड है, वह हमें निस्संदेह मार डालेगा। सुग्रीवके हाथसे मरनेकी अपेक्षा तो प्रायोपवेशन (अन्न-जल छोड़कर मर जाने) हीमें हमारा अधिक कल्याण है। ऐसा निर्णय करके वे सब जहाँ-तहाँ कुश बिछाकर मरनेका निश्चय कर वहीं बैठ गये।'*

वानरोंका कोलाहल सुनकर सम्पाति विन्ध्यगिरिकी कन्दरासे बाहर निकले और जब उन्होंने अन्न-जल त्यागकर मरनेका निश्चय किये वानर-भालुओंको कुशासनपर बैठे देखा तो उनकी प्रसन्नताकी सीमा न रही। सम्पातिने हर्षातिरेकसे कहा—

विधिः किल नरं लोके विधानेनानुवर्तते।
यथायं विहितो भक्ष्यश्चिरान्मह्ममुपागतः॥
परम्पराणां भक्षिष्ये वानराणां मृतं मृतम्।
(वा० रा० ४। ५६। ४-५)

'जैसे लोकमें पूर्वजन्मके कर्मानुसार मनुष्यको उसके कियेका फल स्वतः प्राप्त होता है, उसी प्रकार आज दीर्घकालके पश्चात् यह भोजन स्वतः मेरे लिये प्राप्त हो गया। अवश्य ही यह मेरे किसी कर्मका फल है। इन वानरोंमेंसे जो-जो मरता जायगा, उसको मैं क्रमशः भक्षण करता जाऊँगा।'

भोजनपर लुब्ध महाकाय सम्पातिको देखकर वानरगण अत्यन्त भयभीत हो गये। वे सोचने लगे—'हमसे न तो श्रीरामकी ही कोई सेवा हो सकी और न सुग्रीवकी ही आज्ञाका पालन हुआ। अब हमलोग व्यर्थ ही इसके पेटमें चले जायँगे।' फिर उन्होंने कहा—

अहो जटायुर्धर्मात्मा रामस्यार्थे मृतः सुधीः।
मोक्षं प्राप दुरावापं योगिनामप्यरिंदमः॥
(अ० रा० ४। ७। ३४)

'अहो! धर्मात्मा जटायु धन्य है, जिस बुद्धिमान्‌ने श्रीरामके कार्यमें अपने प्राण दे दिये। देखो, उस शत्रुदमन-ने वह मोक्ष-पद प्राप्त कर लिया, जो योगियोंको भी दुर्लभ है।'

जटायुका नाम सुनकर सम्पाति अत्यधिक दुःखी हो गये। अत्यन्त आश्चर्यसे उन्होंने वानरोंसे कहा—

के वा यूयं मम भ्रातुः कर्णपीयूषसंनिभम्॥
जटायुरिति नामाद्य व्याहरन्तः परस्परम्।
उच्यतां वो भयं माभूत् मत्तः प्लवगसत्तमाः॥
(अ० रा० ४। ७। ३५-३६)

"हे कपिश्रेष्ठगण! आपलोग कौन हैं, जो आपसमें मेरे कानोंको अमृतके समान प्रिय लगनेवाला मेरे भाईका 'जटायु' नाम ले रहे हैं। आप मुझसे किसी प्रकारका भय न करके अपना वृत्तान्त कहिये।"

सम्पातिके आश्वासन देनेपर भी वानर-यूथपतियोंने उनपर विश्वास नहीं किया। वे उनके कर्मसे शङ्कित थे। बहुत सोच-विचारके उपरान्त वानर उनके समीप गये और युवराज अङ्गदने उन्हें श्रीरामके जन्मसे लेकर सीता-हरणतककी सारी घटना अत्यन्त विस्तारपूर्वक सुनायी। इसके बाद जटायुका श्रीसीताकी रक्षाके लिये रावणके साथ युद्धकर श्रीरामकी गोदमें सुखपूर्वक प्राण-विसर्जन करनेकी बात कही। परम कारुणिक श्रीरामने जिस प्रकार जटायुकी अन्तिम क्रिया की, वह भी उन्होंने भाव-विभोर होकर बताया और अन्तमें उन्होंने यह भी कहा कि 'हमलोग वानरोंके राजा सुग्रीवके आदेशसे सीताकी खोजके लिये यहाँतक आये हैं। पर अबतक उनका कोई पता नहीं लगा, इस कारण हमलोग दुःखसे अधीर और व्याकुल हो रहे हैं।'

अपने प्राणप्रिय भाई जटायुका प्रभुके लिये प्राणार्पण एवं उनकी अन्तिम गतिका सुखद संवाद सुनकर सम्पाति

* अस कहि लवन सिंधु तट जाई। बैठे कपि सब दर्भ डसाई॥
(मानस ४। २५। ५)

आनन्दविह्वल हो गये। इतना ही नहीं, महामुनि चन्द्रमाके वचनके अनुसार अपने परम कल्याणका क्षण उपस्थित जानकर वे अपना सारा दुःख भूल गये। उनके अङ्ग-अङ्ग परमानन्दसे पुलकित हो गये।

अङ्गदस्य वचः श्रुत्वा सम्पातिर्हृष्टमानसः ॥
उवाच मत्प्रियो भ्राता जटायुः प्लवगेश्वराः।
बहुवर्षसहस्रान्ते भ्रातृवार्ता श्रुता मया ॥
(अ० रा० ४ । ७ । ४६-४७)

"अङ्गदके वचन सुनकर चित्तमें प्रसन्न होकर सम्पातिने कहा—'हे कपीश्वरो! जटायु मेरा परमप्रिय भाई था। आज कई सहस्र वर्षोंके अनन्तर मैंने भाईका समाचार सुना है'।" फिर उन्होंने कहा—

वाग्बुद्धिभ्यां हि सर्वेषां करिष्यामि प्रियं हि वः ॥
यद्धि दाशरथेः कार्यं मम तन्नात्र संशयः।
(वा० रा० ४ । ५९ । २४-२४½)

'मैं वाणी और बुद्धिके द्वारा तुम सब लोगोंका प्रिय कार्य अवश्य करूँगा; क्योंकि दशरथनन्दन श्रीरामका जो कार्य है, वह मेरा ही है—इसमें संशय नहीं है।'

सम्पातिने फिर कहा—'सर्वप्रथम तुमलोग मुझे जलके पास ले चलो, जिससे मैं अपने भाईको जलाञ्जलि दे दूँ[४]। फिर आपलोगोंकी कार्य-सिद्धिके लिये उचित मार्ग बताऊँगा।'

सम्पातिकी इच्छा जानकर महावीर हनुमान्‌जी उन्हें उठाकर समुद्र-तटपर ले गये[५]। वहाँ सम्पातिने स्नानकर जटायुको जलाञ्जलि दी। फिर वानरगण उन्हें उनके स्थानपर ले गये। वहाँ भगवान् श्रीरामके भक्तोंको सम्मुख बैठे देखकर सम्पातिके सुखकी सीमा नहीं थी। उनका शारीरिक एवं मानसिक कष्ट तो पहले ही दूर हो गया था। उन्होंने प्रभुके प्रिय भक्तोंको अत्यन्त आदरपूर्वक बताया—

गिरि त्रिकूट ऊपर बस लंका। तहँ रह रावन सहज असंका ॥
तहँ असोक उपबन जहँ रहई। सीता बैठि सोच रत अहई ॥

मैं देखउँ तुम्ह नाहीं गीधहि दृष्टि अपार।
बूढ़ भयउँ न त करतेउँ कछुक सहाय तुम्हार ॥
(मानस ४ । २७ । ६; २८)

'त्रिकूट पर्वतपर लङ्का नगरी है। वहाँ सहज ही निश्शङ्क रावण वास करता है। वहाँ अशोकका उपवन है, जहाँ श्रीसीताजी शोकमग्न बैठी हैं। मैं उन्हें देख रहा हूँ, तुम नहीं देख सकते; क्योंकि गृध्रकी दृष्टि बहुत लंबी होती है। मैं वृद्ध हो गया, नहीं तो तुम्हारी कुछ सहायता करता।'

फिर उन्हें प्रोत्साहित करते हुए सम्पातिने उनसे कहा—

तद् भवन्तो मतिश्रेष्ठा बलवन्तो मनस्विनः ॥
प्रहिताः कपिराजेन देवैरपि दुरासदाः।
(वा० रा० ४ । ५९ । २५-२६)

'तुमलोग भी उत्तम बुद्धिसे युक्त, बलवान्, मनस्वी तथा देवताओंके लिये भी दुर्जय हो। इसीलिये वानरराज सुग्रीवने तुम्हें इस कार्यके लिये भेजा है।'

फिर उन्होंने श्रीराम-लक्ष्मणके तीक्ष्ण शरोंकी महिमाका गान करते हुए वानरोंसे कहा—

रामलक्ष्मणबाणाश्च विहिताः कङ्कपत्रिणः ॥
त्रयाणामपि लोकानां पर्याप्तास्त्राणनिग्रहे।
कामं खलु दशग्रीवस्तेजोबलसमन्वितः।
भवतां तु समर्थानां न किंचिदपि दुष्करम् ॥
(वा० रा० ४ । ५९ । २६-२७)

'श्रीराम और लक्ष्मणके कङ्कपत्रसे युक्त जो बाण हैं, वे साक्षात् विधाताके बनाये हुए हैं। वे तीनों लोकोंका संरक्षण और दमन करनेके लिये पर्याप्त शक्ति रखते हैं। तुम्हारा विपक्षी दशग्रीव रावण भले ही तेजस्वी और बलवान् है, किंतु तुम-जैसे सामर्थ्यशाली वीरोंके लिये उसे परास्त करना आदि कोई भी कार्य दुष्कर नहीं है।'

प्रोत्साहन देनेके अनन्तर सम्पातिने कहा—'आपलोग किसी-न-किसी तरह समुद्र लाँघनेका प्रयत्न कीजिये। राक्षस-राज रावणको तो वीरवर श्रीरामचन्द्रजी स्वयं मार डालेंगे। आपलोग विचार कर लें कि आपमें ऐसा कौन वीर है, जो समुद्रोल्लङ्घन कर लङ्कामें पहुँच जाय और माता सीताके

---

(४) मोहि लै जाहु सिंधु तट देउँ तिलांजलि ताहि।
बचन सहाइ करबि मैं पैहहु खोजहु जाहि ॥
(मानस ४ । २७)

(५) जयति धर्मांशु-संदग्धसंपाति-नवपक्ष-लोचन-दिव्यदेह-दाता। (विनयपत्रिका २८ वाँ पद)

दर्शन एवं उनसे बातचीत कर पुनः समुद्रके इस पार आ जाय।'

सम्पातिके द्वारा माता सीताका पता पानेपर वानर-वृन्दके हर्षकी सीमा न रही। उन्होंने कौतूहलवश सम्पातिका पूरा जीवन-वृत्तान्त जाननेकी इच्छा व्यक्त की। सम्पातिने उन्हें बड़े ही आदर और प्रेमपूर्वक अपने पंख भस्म होने एवं चन्द्रमा मुनिकी कही सारी बातें सुना दीं। इसके अनन्तर उन्होंने कहा—'वानरो! पंखहीन पक्षीकी विवशता क्या कही जाय। मेरी इस अत्यन्त दयनीय स्थितिमें मेरा पुत्र पक्षिप्रवर सुपार्श्व ही मुझे यथासमय आहार प्रदानकर मेरा भरण-पोषण करता आया है। हमलोगोंकी क्षुधा अत्यन्त तीव्र होती है। एक दिन मैं भूखसे छटपटा रहा था; किंतु मेरा पुत्र देरसे रिक्तहस्त लौटा, इस कारण मैंने उसे अनेक कटु बातें कहीं।

"इसपर उसने अत्यन्त विनम्रतापूर्वक मुझसे कहा—'मैं आपके आहारके लिये यथासमय आकाशमें उड़ा और महेन्द्रगिरिके द्वारको रोककर अपनी चोंच नीची किये समुद्री जीवोंको देखने लगा। उसी समय वहाँ मैंने एक कज्जलगिरिकी भाँति बलवान् पुरुषको देखा, जो अपने साथ एक अलौकिक तेजस्विनी स्त्रीको बलात् लिये जा रहा था। उस स्त्री और पुरुषको मैंने आपकी भूख मिटानेके लिये निश्चय किया, किंतु उस पुरुषकी अत्यन्त मधुर, विनम्र एवं दीन वाणीसे प्रभावित होकर मैंने उसे छोड़ दिया।

४ 'इसके अनन्तर मुझे महर्षियों एवं सिद्ध पुरुषोंसे विदित हुआ कि वे दशरथनन्दन श्रीरामकी पत्नी भगवती सीता थीं और काला पुरुष लङ्काधिपति रावण था। श्रीसीताके केश खुल गये थे। वे अत्यन्त दुःखसे श्रीराम और लक्ष्मणका नाम लेकर विलाप कर रही थीं और उनके आभूषण गिरते जा रहे थे; इसी कारण मुझे यहाँ आनेमें देर हो गयी।'

"पंखहीन, असहाय और विवश मैं छटपटाकर रह गया। मैं कुछ नहीं कर सकता था। दुष्ट रावणकी शक्तिसे मैं परिचित था, इस कारण जगदम्बा सीताकी रक्षा न करनेके कारण मैंने उसे कठोर वचन कहा।" फिर सम्पातिने कहा—

तस्या विलपितं श्रुत्वा तौ च सीतावियोजितौ ॥
न मे दशरथस्नेहात् पुत्रेणोत्पादितं प्रियम्।
(वा० रा० ४। ६३। ७-८)

'सीताका विलाप सुनकर और उनसे बिछुड़े हुए श्रीराम तथा लक्ष्मणका परिचय पाकर तथा राजा दशरथके प्रति मेरे स्नेहका स्मरण करके भी मेरे पुत्रने जो सीताकी रक्षा नहीं की, अपने इस बर्तावसे उसने मुझे प्रसन्न नहीं किया—मेरा प्रिय कार्य नहीं होने दिया।'

परम भाग्यवान् सम्पाति वानरोंको अपनी आत्मकथा सुना ही रहे थे कि उन समस्त वानरोंके सम्मुख उनके दो नये पंख निकल आये। उनमें यौवनकालका बल भी उत्पन्न हो गया। महर्षि चन्द्रमाकी वाणीको स्मरणकर वे अत्यन्त सुखी हुए। उन्होंने वानरोंसे कहा—

सर्वथा क्रियतां यत्नः सीतामधिगमिष्यथ ॥
पक्षलाभो ममायं वः सिद्धिप्रत्ययकारकः।
(वा० रा० ४। ६३। १२-१३)

'वानरो! तुम सब प्रकारसे यत्न करो। निश्चय ही तुम्हें सीताका दर्शन प्राप्त होगा। मुझे पंखोंका प्राप्त होना तुमलोगोंकी कार्य-सिद्धिका विश्वास दिलानेवाला है।'

फिर उन्होंने भगवान् श्रीरामके मङ्गलमय नामकी महिमाका बखान करते हुए उन सबके लिये समुद्रोल्लङ्घन अत्यन्त सरल कार्य बताया। सम्पातिने कहा—

यन्नामस्मृतिमात्रतोऽपरिमितं संसारवारांनिधिं
तीर्त्वा गच्छति दुर्जनोऽपि परमं विष्णोः पदं शाश्वतम्।
तस्यैव स्थितिकारिणस्त्रिजगतां रामस्य भक्ताः प्रिया
यूयं किं न समुद्रमात्रतरणे शक्ताः कथं वानराः ॥
(अ० रा० ४। ८। ५५)

'वानरगण! जिनके नामके स्मरणमात्रसे बड़े दुष्टजन भी इस अपार संसार-सागरको पार करके भगवान् विष्णुके सनातन परमपदको प्राप्त कर लेते हैं, आपलोग त्रिलोकीकी रक्षा करनेवाले उन्हीं भगवान् रामके प्रिय भक्तगण हैं। फिर इस क्षुद्र समुद्रमात्रको पार करनेमें आप क्यों समर्थ न होंगे?'*

वानरोंसे इस प्रकार कहकर पक्षिश्रेष्ठ सम्पाति उक्त पर्वतशिखरसे उड़ गये।

* मोहि बिलोकि धरहु मन धीरा। राम कृपाँ कस भयउ सरीरा ॥ पापिउ जाकर नाम सुमिरहीं। अति अपार भवसागर तरहीं ॥ तासु दूत तुम्ह तजि कदराई। राम हृदयँ धरि करहु उपाई ॥
(रामचरितमानस ४। २८। १-२)

श्रीकृष्णका बालपन

(१)

यारो, सुनो य दधिके लुटैयाका बालपन,
औ मधुपुरी नगरके बसैयाका बालपन।
मोहन-सरूप नृत्य-करैयाका बालपन,
बन-बनके ग्वाल गौवें चरैयाका बालपन।
ऐसा था बाँसुरीके बजैयाका बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैयाका बालपन ॥

(२)

ज़ाहिरमें सुत वो नंद-जसोदाके आप थे,
वरना वो आपी माई थे और आपी बाप थे।
परदेमें बालपनके ये उनके मिलाप थे,
जोती-सरूप कहिये जिन्हें, सो वो आप थे।
ऐसा था बाँसुरीके बजैयाका बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैयाका बालपन ॥

(३)

उनको तो बालपनसे न था काम कुछ ज़रा,
संसारकी जो रीत थी, उसको रखा बजा।
मालिक थे वे वह तो आपी, उन्हें बालपनसे क्या ?
वाँ बालपन, जवानी, बुढ़ापा सब एक था।
ऐसा था बाँसुरीके बजैयाका बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैयाका बालपन ॥

(४)

बाले[2] हो बिर्जराज, जो दुनियाँमें आ गये,
लीलाके लाख रंग-तमाशे दिखा गये।
इस बालपनके रूपमें कितनोंको भा गये,
एक यह भी लहर थी, जो जहाँको जता गये।
ऐसा था बाँसुरीके बजैयाका बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैयाका बालपन ॥

(५)

परदा न बालपनका वो करते अगर ज़रा,
क्या ताब थी जो कोई नजर भरके देखता।
झाड़ और पहाड़ देते सभी अपना सर झुका,
पर कौन जानता था, जो-कुछ उनका भेद था।
ऐसा था बाँसुरीके बजैयाका बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैयाका बालपन ॥

(६)

अब घुटनियोंका उनके मैं चलना बयाँ करूँ ?
या मीठी बातें मुँहसे निकलना बयाँ करूँ ?
या बालकोंमें इस तरह पलना बयाँ करूँ ?
या गोदियोंमें उनका मचलना बयाँ करूँ ?
ऐसा था बाँसुरीके बजैयाका बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैयाका बालपन ॥

(७)

पाटी[6] पकड़के चलने लगे जब मदनगोपाल,
धरती तमाम हो गयी एक आनमें निहाल।
बासुकि चरन छुअनको चले छोड़के पताल,
आकासपर भी धूम मची देख उनकी चाल।
ऐसा था बाँसुरीके बजैयाका बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैयाका बालपन ॥

(८)

करने लगे ये धूम जो गिरधारी नंदलाल,
इक आप और दूसरे साथ उनके ग्वाल-बाल।
माखन-दही चुराने लगे सबके देखभाल,
दी अपनी दूध-चोरीकी घर-घरमें धूम डाल।
ऐसा था बाँसुरीके बजैयाका बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैयाका बालपन ॥

(९)

कोठेमें होवे, फिर तो उसीको ढँढोरना,
मटका हो तो उसीमें भी जा मुखको बोरना।
ऊँचा हो तो भी कंधेपै चढ़के न छोड़ना,
पहुँचा न हाथ तो उसे मुरलीसे फोड़ना।
ऐसा था बाँसुरीके बजैयाका बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैयाका बालपन ॥

(१०)

गरँ चोरी करते आ गई ग्वालिन कोई वहाँ,
और उसने आ पकड़ लिया तो उससे बोले वाँ।
'मैं तो तेरे दहीकी उड़ाता था मक्खियाँ,
खाता नहीं मैं उसको, निकाले था चींटियाँ।'
ऐसा था बाँसुरीके बजैयाका बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैयाका बालपन ॥

१–यथायोग्य पालन किया। २–अत्यन्त महान्। ३–जगत्। ४–सामर्थ्य। ५–शब्दोंमें अङ्कित। ६–चारपाईके डंडे। ७–यदि।

(११)

गुस्सेमें कोई हाथ पकड़ती जो आनकर,
तो उसको वह स्वरूप दिखाते थे मुर्लीधर।
जो आपी लाके धरती वो माखन कटोरीभर,
गुस्सा वो उसका आनमें जाता वहाँ उतर।
ऐसा था बाँसुरीके बजैयाका बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैयाका बालपन॥

(१२)

उनको तो देख ग्वालिनें जो जान पाती थीं,
घरमें इसी बहानेसे उनको बुलाती थीं।
जाहिरमें उनके हाथसे वे गुल[10] मचाती थीं,
परदे[11] सभी वो कृष्णकी बलिहारी जाती थीं।
ऐसा था बाँसुरीके बजैयाका बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैयाका बालपन॥

(१३)

कहती थीं दिलमें, दूध जो अब हम छिपायेंगे,
श्रीकृष्ण इसी बहाने हमें मुँह दिखायेंगे।
और जो हमारे घरमें ये माखन न पायेंगे,
तो उनको क्या गरज[12] है वो काहेको आयेंगे।
ऐसा था बाँसुरीके बजैयाका बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैयाका बालपन॥

(१४)

सब मिल जसोदा पास यह कहती थीं आके, बीर[13]
अब तो तुम्हारा कान्हा हुआ है बड़ा शरीर[14]।
देता है हमको गालियाँ और फाड़ता है चीर,
छोड़े दही न दूध, न माखन मही[15] न खीर।
ऐसा था बाँसुरीके बजैयाका बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैयाका बालपन॥

(१५)

माता जसोदा उनकी बहुत करतीं मिंतियाँ,
औ कान्हको डरातीं उठा मनकी[16] साँटियाँ।
तब कान्हजी जसोदासे करते यही बयाँ,
'तुम सच न मानो, मैया! ये सारी हैं झूठियाँ।'
ऐसा था बाँसुरीके बजैयाका बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैयाका बालपन॥

(१६)

'माता, कभी ये मुझको पकड़कर ले जाती हैं,
औ गाने अपने साथ मुझे भी गवाती हैं।
सब नाचती हैं आप मुझे भी नचाती हैं,
आपी तुम्हारे पास ये फरियादी[17] आती हैं।'
ऐसा था बाँसुरीके बजैयाका बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैयाका बालपन॥

(१७)

'मैया, कभी ये मेरी झगुलिया छिपाती हैं,
जाता हूँ राहमें तो मुझे छेड़े जाती हैं।
आपी मुझे रुठाती हैं, आपी मनाती हैं,
मारो इन्हें, ये मुझको बहुत-सा सताती हैं।'
ऐसा था बाँसुरीके बजैयाका बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैयाका बालपन॥

(१८)

इक रोज मुँहमें कान्हने माखन छिपा लिया,
पूछा जसोदाने तो वहाँ मुँह बना दिया।
मुँह खोल तीन लोकका आलम[18] दिखा दिया,
इक आनमें दिखा दिया और फिर भुला दिया।
ऐसा था बाँसुरीके बजैयाका बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैयाका बालपन॥

(१९)

थे कान्हजी तो नंद-जसोदाके घरके माह[19],
मोहन नवलकिशोरकी थी सबके दिलमें चाह।
उनको जो देखता था, सो करता था वाह-वाह,
ऐसा तो बालपन न किसीका हुआ है आह।
ऐसा था बाँसुरीके बजैयाका बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैयाका बालपन॥

(२०)

राधारमनके यारो अजब जाये गौर थे,
लड़कोंमें वो कहाँ हैं, जो कुछ उनमें तौर[20] थे।
आपी वो प्रभु नाथ थे, आपी वो दौर[21] थे,
उनके तो बालपनमेंही तेवर[22] कुछ और थे।
ऐसा था बाँसुरीके बजैयाका बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैयाका बालपन॥

८–क्षण। ९–प्रत्यक्षमें। १०–हल्ला। ११–मन-ही-मन। १२–स्वार्थ। १३–बहिन। १४–नटखट। १५–छाछ। १६–भारी। १७–शिकायत लेकर। १८–दृश्य। १९–चन्द्रमा। २०–रंग-ढंग। २१–समयका फेर। २२–रोषपूर्ण हाव-भाव।

(२१)

होता है यों तो बालपन हर तिफ्ल[23] का भला,
पर उनके बालपनमें तो कुछ औरी भेद था।
इस भेदकी, भला, जो किसीको खबर है क्या;
क्या जाने अपनी खेलने आये थे क्या कला।
ऐसा था बाँसुरीके बजैयाका बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैयाका बालपन॥

(२२)

सब मिलके, यारो, कृष्ण-मुरारीकी बोलो जै,
गोविंद-छैल-कुंज-बिहारीकी बोलो जै।
दधिचोर, गोपीनाथ, बिहारीकी बोलो जै,
तुम भी 'नजीर' कृष्ण-मुरारीकी बोलो जै।
ऐसा था बाँसुरीके बजैयाका बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैयाका बालपन॥

—नजीर

पढ़ो, समझो और करो

(१)

कर्तव्यनिष्ठ पिता-पुत्र

'कर्नल ! तुम्हारा पुत्र मैनुअल पकड़ लिया गया है। वह हमारे पास बंदीके रूपमें है। तुम आत्मसमर्पण कर दो, किलेके फाटक खोल दो, वरना तुम्हारे पुत्रको गोलीसे उड़ा दिया जायगा।' कम्युनिस्ट दलके नेता टेलीफोनपर कर्नल मास्करेडोसे कह रहे थे। उनकी वाणीमें बड़ा गर्व था।

कर्नल मास्करेडो एक वीर पुरुष थे। उन्होंने दृढ़तासे उत्तर दिया—'आपकी धमकीसे मैं कर्तव्यसे विचलित नहीं हो सकता। आप अपने बंदीके साथ यथेच्छ व्यवहार करनेमें स्वतन्त्र हैं।'

स्पेनमें भीषण गृहयुद्ध छिड़ा हुआ था। कम्युनिस्ट दल बहुत शक्तिसम्पन्न था; परंतु देशके सेनानायकको जब खबर मिली, तब उसने तत्काल भोजन-सामग्री तथा गोला-बारूदका समुचित प्रबन्ध करके पर्याप्त सेनाको टोलेडो नगरके किलेमें एकत्रित कर लिया और किलेका द्वार बंद कर दिया। कम्युनिस्ट दलने किलेपर धावा बोल दिया, पर वे किलेका कुछ भी नहीं बिगाड़ सके। आक्रमण-पर-आक्रमण हो रहे थे, पर सब व्यर्थ। कर्नल मास्करेडोका पुत्र मैनुअल मैड्रिड नगरमें पढ़ रहा था। कम्युनिस्टोंने उसे बंदी बना लिया और उसके जीवन-पर विजय पानेकी पूर्ण आशा कर बैठे; परंतु कर्नल मास्करेडोका टेलीफोनपर उत्तर सुनकर कम्युनिस्ट दलका नेता दंग रह गया। एक पिता अपने पुत्रके जीवनके लिये इस प्रकार निरपेक्षभावसे बोल सकता है, उन्हें इसकी आशा नहीं थी। उसने सोचा—'कर्नलको यह विश्वास नहीं हुआ होगा कि उनका पुत्र मैनुअल बंदी हो गया। दूसरे, पुत्रकी करुण-प्रार्थनासे पिताका वज्रहृदय पिघल जाता है।' ऐसा विचार करके उसने कर्नलको पुनः फोनपर कहा—'तुम इस भ्रममें न रहो कि मैनुअल बंदी नहीं है। लो, तुम अपने पुत्रसे स्वयं बात कर लो।'

मैनुअलने टेलीफोन हाथमें लिया और बोला—'पिताजी ! मैं मैनुअल बोल रहा हूँ। मैं अपने विद्यालयमेंसे बंदी बनाकर यहाँ ले आया गया हूँ और भीषण यन्त्रणा भोग रहा हूँ। मुझे अन्तिमरूपमें यह कह दिया गया है कि यदि तुम्हारे पिता किलेका फाटक नहीं खोलेंगे तो तुम गोलीसे उड़ा दिये जाओगे। पिताजी ! अब मेरा जीवन आपके हाथ है !'

कर्नल मास्करेडोने अपने पुत्र मैनुअलकी आवाज पहचान ली। पुत्रकी करुण वाणीने उनके हृदयको स्पर्श किया, पर कर्तव्यपालनकी दृढ़ताके सामने वात्सल्यकी लहर विलीन हो गयी। उन्होंने बड़ी गम्भीर वाणीमें दृढ़ताके साथ उत्तर दिया—'बेटे ! मेरे प्यारे बेटे ! तुम मेरा कर्तव्य जानते हो और अपना भी। मातृभूमिके लिये सत्पुत्रकी भाँति बलिदान होनेके लिये तैयार रहो; परमपिता तुम्हारे साथ हैं और सदा रहेंगे।'

वीर पिताका पुत्र भी वीर था। पुत्रने उत्तर दिया—'पिताजी ! आप मेरी प्रार्थनाको अनसुनी कर दें और प्रसन्नताके साथ अपने कर्तव्यका पालन करें।' कम्युनिस्ट दलके नेता पिता-पुत्रकी बात सुन रहे थे, पर विजयकी लालसासे वे इतने प्रमत्त हो रहे थे कि वे कर्नल मास्करेडो एवं उनके पुत्रकी बलिदान-भावनाका आदर नहीं कर सके।

उन्होंने तत्काल आज्ञा दी और मैनुअल गोलीसे उड़ा दिया गया।

कर्नल मास्करेडो अपने कर्त्तव्यपर अटल रहे। संघर्ष जारी रहा। कम्युनिस्ट दल किलेको तोड़नेमें असफल रहा। अन्तमें छः मास होते-होते भगवान्ने कर्नल मांस्करेडोकी सहायता की और कम्युनिस्ट दल खदेड़ दिया गया।

(२)

कृतज्ञताकी सुवास

थोड़े दिन पूर्व मेरे एक मित्रने अपने जीवनकी एक अविस्मरणीय घटना सुनायी, उसे अपने शब्दोंमें मैं यहाँ दे रहा हूँ।

एक अफसरकी हैसियतसे जब वे स्टेशनपर उतरे थे, ऑफिसके ८-१० कर्मचारियोंने उनका भावपूर्ण स्वागत किया था और पुष्पहारोंका ढेर लग गया था। ऑफिसमें भी हर समय उनको कोई तकलीफ न हो, इसका खयाल सब कोई रखते थे। पूरा ऑफिस-स्टाफ उनपर इस प्रकार मँडराया रहता था, जिस प्रकार मिठाईपर मक्खियाँ।

तीन वर्षके बाद जब मेरे मित्रका स्थानान्तरण हुआ, तब उन्होंने अपने ऑफिस-कर्मचारियोंको सामान लदवाने आदिमें मदद करनेके लिये घरपर बुलाया, किंतु उनमेंसे एक भी कर्मचारी मदद करनेके लिये नहीं आया। विदाके समय रेल-स्टेशनपर भी कोई उपस्थित नहीं हुआ।

गाड़ी रवाना होनेसे पाँच-सात मिनट पूर्व एक व्यक्तिको पुष्पमाला लेकर आता हुआ देखकर वे नीचे खड़े रह गये। उसने पुष्पमाला पहनाते हुए कहा—'साहब, क्षमा कीजियेगा, मुझे ऑफिस छोड़नेमें आज देर हो गयी।' आनेवाला एक चपरासी था।

'ऑफिसके और कर्मचारी·······?'

'वे नहीं आयेंगे, साहब!'—चपरासी बोला—'वे तो नये आनेवाले साहबके स्वागतकी तैयारीमें लगे हैं।'

'तो फिर तू क्यों आया?' मित्रने प्रश्न किया। 'मेरे पास आज न सत्ता है, न कुर्सी! अब मैं तेरा साहब भी तो नहीं हूँ?'

'आप यह क्या कह रहे हैं, साहब!'—चपरासीके शब्दोंमें मौन वेदना थी। वह पुनः बोला—'एक अच्छे अफसरकी हैसियतसे आपका स्थान मेरे हृदयमें विद्यमान है और रहेगा। आपने अपने साधु-स्वभावसे हम सभीको क्या नहीं दिया था। मैं आपके स्नेह एवं उपकारोंको भूल नहीं सकता, दूसरे चाहे भूल जायँ।'

अपनी बात पूरी करते हुए मेरे मित्रने कहा—'चपरासी भाईकी दी हुई पुष्पमालाकी सुगन्धसे मेरा हृदय सुवासित हो गया।'

सचमुच, कृतज्ञताकी सुवास ऐसी ही प्रभावोत्पादिनी होती है।

'अखण्ड आनन्द' —चन्द्रकान्त द्विवेदी

(३)

साधु-व्यवहार

संतका व्यवहार लोकातीत होता है। उसकी अपनी कोई माँग नहीं होती और वह दूसरेकी माँगको पूरा करनेके लिये सदा तत्पर रहता है। भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार गृहस्थके रूपमें रहते हुए एक सच्चे संत थे। उनके जीवनकी अनेक घटनाएँ हैं, जहाँ उन्होंने दूसरोंकी उचित-अनुचित—सभी प्रकारकी माँगोंका आदर किया है।

अप्रैल, सन् १९६८ की बात है—श्रीभाईजी अपने परिवारसहित सत्सङ्गके लिये गीताभवन, स्वर्गाश्रम जा रहे थे। लखनऊ स्टेशनपर उनके लिये देहरादून एक्सप्रेसमें हरिद्वारतकके लिये चार प्रथम श्रेणीकी सीटोंकी एक केबिन आरक्षित करायी गयी थी। जब गाड़ी स्टेशनपर पहुँची और श्रीभाईजीके साथी डिब्बेमें घुसे, तब उन्होंने देखा—एक शिक्षित भद्र पुरुष सपरिवार उनके लिये आरक्षित केबिनमें बैठे हैं। श्रीभाईजीके साथके लोगोंने उन महाशयको केबिन खाली करनेके लिये कहा, किंतु पढ़े-लिखे होनेपर भी उन्होंने केबिन खाली करना अस्वीकार कर दिया। उसका हेतु पूछनेपर उन्होंने बताया कि उनके नामसे 'सी' केबिन आरक्षित है और चूँकि यह 'सी' केबिन है, अतएव वे उसे खाली नहीं करेंगे। श्रीभाईजीके व्यक्तियोंने उनसे प्रार्थना की—'लखनऊसे दो कम्पार्टमेंट हरिद्वारके लिये लगते हैं। आपका 'सी' केबिन दूसरे कम्पार्टमेंटमें है, इसमें नहीं; पर वे कुछ भी सुननेको तैयार नहीं हुए। श्रीभाईजीके व्यक्ति रेलवे अधिकारियोंको बुलाने जा रहे थे कि श्रीभाईजी डिब्बेमें प्रविष्ट हुए। जब उन्हें पता

चला कि केबिनके लिये विवाद हो रहा है, तब वे पूरी परिस्थिति समझे बिना ही अपने साथवालोंपर बिगड़ खड़े हुए—'यात्रामें दूसरोंकी सुख-सुविधापर ध्यान नहीं देते, मेरे लिये सुविधा करना चाहते हो। दूसरोंको असुविधा होनेसे मुझे जो हृदयमें कष्ट होगा, उसकी तुमलोगोंको कल्पना नहीं है। जब एक केबिनमें एक महाशय सपरिवार बैठे हैं, तब तुमलोगोंको उसमें क्यों प्रविष्ट होना चाहिये ?' श्रीभाईजीके सेवकने स्थिति स्पष्ट करते हुए कहा—"हमलोगोंके नामसे यह केबिन आरक्षित है। इन महाशयके लिये इसी प्रकारकी दूसरी केबिन दूसरे कम्पार्टमेंटमें है। हम इनसे यही प्रार्थना कर रहे हैं—'आप भूलसे दूसरे कम्पार्टमेंटके 'सी' केबिनमें आ गये हैं। लाइये, आपका सामान अपने कुलियोंद्वारा उस कम्पार्टमेंटके 'सी' केबिनमें भेज दें।' हम इनके साथ तनिक भी अभद्र व्यवहार या ज्यादती नहीं कर रहे हैं।" श्रीभाईजी पूरी स्थितिको समझ गये, किंतु उनका संत-हृदय इस बातको स्वीकार नहीं कर सका कि जबतक वे सज्जन अपनी भूल समझकर स्वयं जानेको तैयार न हों, हमलोग उस केबिनमें घुसकर उन्हें वहाँसे हटनेकी प्रार्थना करें और स्वयं केबिनके बाहर गैलरीमें खड़े हो गये। संयोगसे कानपुरकी एक बहन भी उसी गाड़ीसे हरिद्वार जा रही थी। उनके नामसे 'बी' केबिन आरक्षित था। जब उसने देखा कि श्रीभाईजी अपनी धर्मपत्नी आदिके साथ गैलरीमें खड़े हैं, तब उसने प्रार्थना की—'आप मेरी केबिनमें आकर बैठ जायँ।' श्रीभाईजीने पहले तो इसे स्वीकार नहीं किया, पर जब सबने आग्रह किया, तब वे उस बहनकी केबिनमें अपनी धर्मपत्नी आदिके साथ जाकर बैठ गये। परंतु श्रीभाईजीका सब सामान गैलरीमें पड़ा रहा। साथवाले व्यक्तियोंको इससे बड़ा कष्ट हुआ और उनका बहुत समय इस विवादमें लग गया। परिणाम यह हुआ कि भाई-जीके परिवारकी एक बहन, साथका एक नौकर तथा बहुत-सा सामान प्लेटफार्मपर रह गया और गार्डने सीटी दे दी तथा गाड़ी चल पड़ी। परिवारकी बहनके प्लेटफार्मपर रह जानेकी बात जब साथियोंने भाईजीको बतायी, तब उन्हें बड़ा कष्ट हुआ; किंतु वे इस बातसे निश्चिन्त थे कि लखनऊके अनेकों श्रद्धालु, जो उन्हें विदा करनेके लिये आये थे, उस बहनको सँभाल लेंगे तथा उसे सुरक्षित किसी दूसरी गाड़ीसे हरिद्वार भेज देंगे।

गाड़ी छूटनेपर सेवकने श्रीभाईजीको 'सी' केबिनवाले महानुभावकी नासमझी तथा हठधर्मीको समझानेकी चेष्टा की, पर श्रीभाईजी इस बातको स्वीकार ही नहीं कर पाये कि उनके साथवालोंको उन महाशयके साथ तनिक भी जबर्दस्ती करनी चाहिये थी। श्रीभाईजी बहुत देरतक सेवकको समझाते रहे —'जहाँ विवाद हो, वहाँ अपनी माँगका त्याग कर देना चाहिये। सुख-सुविधाका मनसे सम्बन्ध है; हमलोग जैसे-तैसे बैठकर चले जायँगे। तुमने उन महाशयसे बार-बार कहा-सुना है, तुम इसके लिये जाकर उनसे माफी माँगो। चलो, मैं उनसे माफी माँगता हूँ।'—इतना कहकर वे उठ खड़े हुए उन महाशयके पास जानेके लिये; पर सेवकने अनुनय-विनय करते हुए स्पष्ट किया—'उन महाशयके साथ मैंने तनिक भी अभद्र व्यवहार नहीं किया है। वे बड़े मजेमें अपना केबिन बंद किये बैठे हैं।'

इसी बीच हरदोई स्टेशन आ गया। कंडक्टर महोदयने उन महाशयकी टिकटोंकी जाँच की और उन्हें समझाया कि 'आपका आरक्षण दूसरे कम्पार्टमेंटमें है, इसमें नहीं।' अब उनको बाध्य होकर दूसरे डिब्बेमें जाना पड़ा। श्रीभाईजीने अपने सेवकसे कहा—'उनका सब सामान कुलियोंद्वारा उस डिब्बेमें भिजवा दो और कुलियोंको पैसा अपने पाससे दे दो तथा उनसे क्षमा माँग लो कि आपको डिब्बा परिवर्तन करनेका कष्ट उठाना पड़ रहा है।' सेवकने वही किया। इतना ही नहीं, जब वे सज्जन डिब्बेसे उतरने लगे, तब स्वयं श्रीभाईजीने उनसे कहा—'आपको असुविधा हुई, क्षमा कीजियेगा।'

भूल करनेवालेसे क्षमा माँगना श्रीभाईजीका ही काम था। श्रीभाईजीके इस साधु-व्यवहारको देखकर साथवाले मुग्ध हो गये।

(४)

स्वदेश-रक्षाके समक्ष निजी मानापमान गौण है

पूनाके पेशवा बाजीरावके पुत्र नानासाहबका विजयादशमीके उपलक्ष्में विशाल दरबार लगा है। प्रतिवर्षकी भाँति इस वर्ष भी दरबारमें सभी सूबेदार आमन्त्रित किये गये हैं। दरबारका कार्य आरम्भ होता है, सूबेदारगण पारी-पारीसे उठते हैं तथा पेशवाके सम्मुख आकर, थोड़ा झुककर, दाहिने हाथसे परम्परागत ढंगसे पेशवाकी अभ्यर्थना करके पुनः अपने स्थानपर जाकर बैठ जाते हैं।

बड़ौदाके सूबेदार दामाजी गायकवाड़की पारी आती है। वे वीरोचित शानसे उठते हैं, सिंहासनके सम्मुख जाते हैं,

थोड़ा झुकते भी हैं, पर दायाँ हाथ उठानेके बदले अपना बायाँ हाथ उठाकर वे पेशवाकी अभ्यर्थना करते हैं। पेशवाको यह समझते देर नहीं लगती है कि दामाजीसे उनके सूबेकी आधी जमीन छीन लेनेकी यह प्रतिक्रिया है।

पेशवा सोच तो यह रहे थे कि दामाजी अभ्यर्थनाके समय दण्डस्वरूप पुष्कल धनराशि लायेंगे, अथवा दीनभावसे अनुनय-विनय करेंगे, पर अपनी आशाके विपरीत दामाजीको बायें हाथसे अभ्यर्थना करते देखकर पेशवाका शरीर क्रोधसे काँपने लगा, नेत्र अंगारेके सदृश लाल हो गये तथा होठ फड़कने लगे। पेशवाके हृदयमें क्रोधाग्नि जल रही थी, पर दामाजीकी देशभक्ति एवं शौर्यका स्मरण करके वे कुछ बोले नहीं। दरबार स्तब्ध रह गया। दरबारियोंकी दृष्टि दामाजीपर केन्द्रित हो गयी, पर दामाजीके चेहरेपर शिकनतक न आयी। दरबार बिना किसी अनिष्टके सम्पन्न हो गया।

अब तो प्रतिवर्ष दशहरेके दरबारमें दामाजी गायकवाड़ अपना बायाँ हाथ उठाकर ही पेशवाकी अभ्यर्थना करते तथा पेशवा भी हर बार अपमानका कड़ुआ घूँट पीकर रह जाते।

कालचक्र द्रुतगतिसे चलता रहा। पूना चारों ओर शत्रुओंसे घिर गया। सन् १७६० में पानीपतमें निर्णायक युद्ध होनेवाला था। पेशवा नानासाहब भी अपने मुट्ठीभर सैनिकोंके साथ शत्रुसे लोहा लेनेके लिये कटिबद्ध थे। युद्धकी तैयारी पूर्ण हो चुकी थी।

नानासाहबके चचेरे भाई सदाशिवराव भाऊके सेनापतित्वमें मराठा सैनिक पेशवासे अन्तिम विदा लेनेके लिये एकत्रित हुए। आजके दरबारकी शोभा देखते ही बनती थी। वीरवेषमें मराठा सैनिकोंके चेहरे चमक रहे थे। ऐसा प्रतीत हो रहा था—हर एक मराठा वीर मातृभूमिकी बलिवेदीपर अपने-आपको समर्पित करनेके लिये कटिबद्ध है।

दरबार आरम्भ हुआ। एक-एक करके सूबेदार उठते, पेशवाकी अभ्यर्थना करते तथा ओजस्वी भाषणके द्वारा राष्ट्ररक्षार्थ मर मिटनेका अपना निश्चय बताते।

सूबेदार दामाजीकी पारी आयी। वे धीरे-से उठे, राजसिंहासनके सामने गये, थोड़े-से झुके, पर उन्होंने आज बायाँ हाथ उठानेके स्थानपर अपना दाहिना हाथ उठाकर परम्परागत ढंगसे पेशवाकी अभ्यर्थना की तथा निश्शब्द यथास्थान बैठ गये।

पेशवा सजल नेत्रोंसे दामाजीकी ओर देख रहे थे। दरबारमें उपस्थित सभी सरदार भावातिरेकसे रोमाञ्चित हो उठे।

दामाजी गायकवाड़की इस निश्शब्द भाव-भङ्गिमाने यह स्पष्ट कर दिया कि स्वदेशरक्षाके समक्ष निजी मानापमान गौण हैं।

(५)

पानी न पीनेकी प्रतिज्ञा

मैं नड़ियाद (गुजरात) का निवासी हूँ, किंतु मेरी जन्मभूमिके गाँवका नाम है—'सरसवणी'। मुझे कभी-कभी घर और खेतकी देखभालके लिये जन्मभूमि जाना पड़ता है। वर्षा ऋतुमें देहातोंमें जानेवाली मोटर-बसें बंद हो जानेके कारण पैदल चलना पड़ता है। सन् १९५९की वर्षा ऋतुमें एक बार मेरा सरसवणी जाना हुआ। दो-तीन मील जानेपर मुझे पानी पीनेकी इच्छा हुई। नजदीकके खेतमें कुआँ था। खेतमें एक किसान काम कर रहा था। मैंने उससे रस्सी और बाल्टी माँगी तो उसने स्वयं आकर पानी खींचकर मुझे पिलाया।

फिर मौसम और खेतके बारेमें बातचीत होने लगी। बातों-ही-बातोंमें कुएँकी भी बात निकल पड़ी। मैंने पूछा—'अभी-अभी कुआँ बनवाया है क्या? पानी बहुत मीठा है इसका।'

किसान बोला—'हाँ, इसी वर्ष कुआँ खुदवाया है। आनेवाले सभी व्यक्ति इसके पानीकी प्रशंसा करते हैं, किंतु पानी कैसा है, इसका मुझे पता नहीं है।'

'क्यों?'—मैंने आश्चर्यसे प्रश्न किया। 'खेत और कुआँ तुम्हारे होते हुए भी तुम्हें पता कैसे नहीं?'

'मैंने कुएँके लिये कर्ज जो लिया है'—किसान बोला! गाँवके बनियेको जबतक कर्जका रुपया पूरा न भर दूँ, तबतक मैंने संकल्प किया है कि कुएँका पानी मुँहसे नहीं लगाऊँगा। प्रायः रुपया लौटा दिया गया है, पर अब भी थोड़ा ऋण बाकी है। अतः मैं कुएँका पानी कैसे पी सकता हूँ?'

मैंने उस ईमानदार किसानको मानसिक वन्दन किया। मुझे प्रसन्नता हुई कि वर्तमान समयमें जहाँ नेकी और ईमानदारीका अभाव दिखायी पड़ रहा है, वहाँ इतना सूक्ष्म विचार करनेवाला व्यक्ति भी है। मुझे अनुभव हुआ—जगत्के खारे समुद्रमें एक मीठा झरना भी बह रहा है। इसका संतोष लेकर मैं आगे चल पड़ा।

'जनकल्याण' —अम्बालाल रावल

सम्मान्य लेखक महानुभावोंसे नम्र-निवेदन

इधर 'कल्याण'के साधारण अङ्कोंके लिये रचनाएँ बहुत प्राप्त हो रही हैं। यह 'कल्याण' के प्रति कृपा एवं प्रीति रखनेवाले लेखक महानुभावोंका सौजन्य है कि वे अपनी रचनाएँ निःस्वार्थभावसे भेजते हैं; परंतु हमें इस बातका बड़ा ही संकोच है कि हम लेखक महानुभावोंके श्रम, प्रतिभा एवं प्रीतिका समुचित आदर नहीं कर पाते। प्रथम तो 'कल्याण' के साधारण अङ्कोंकी पृष्ठ-संख्या सीमित है; दूसरे, 'कल्याण' एक विशुद्ध आध्यात्मिक पत्र होनेके नाते इसमें उन्हीं रचनाओंका उपयोग हो पाता है, जिनमें भगवद्विश्वास, भगवत्प्रेमके साथ-साथ दैवी सम्पदाका प्रतिपादन सुन्दर एवं सुव्यवस्थितरूपमें हुआ हो। रचनाओंके प्रकाशित न होनेपर लेखक महानुभावोंके मनमें विचार होता है और हम भी बड़े ही धर्म-संकटमें पड़ जाते हैं। अतएव सम्मान्य लेखक महानुभावोंसे बड़ी ही विनम्रता एवं आत्मीयतासे यह प्रार्थना है कि वे ही महानुभाव रचनाएँ भेजनेका कष्ट करें, जिनका विषयपर अधिकार हो तथा जो अपने विचार परिमार्जित भाषामें सुव्यवस्थितरूपसे व्यक्त करनेकी क्षमता रखते हों। 'कल्याण' किसी भी धर्म, सम्प्रदाय, वर्ग एवं विचार-प्रणाली आदिके प्रति उपेक्षा, अश्रद्धा अथवा हीनभावनाके प्रचार-प्रसारको प्रश्रय नहीं देता। अतएव लेखक महानुभावोंको अपने लेखोंमें इस प्रकारके विचारोंसे सर्वथा विरत रहना चाहिये।

'पढ़ो, समझो और करो' स्तम्भमें अन्तर्गत प्रकाशित होनेके लिये प्रतिदिन अनेकों घटनाएँ आती हैं। परंतु उनमें अधिकांश घटनाओंमें चामत्कारिक चीजें रहती हैं। लेखक महानुभावोंने देखा होगा कि इस स्तम्भमें हम उन्हीं घटनाओंको महत्त्व देते हैं, जिनमें मानव-हृदयके उदात्त भावों—क्षमा, दया, औदार्य, सरलता आदिका सुन्दर और प्रेरणाप्रद आदर्श हो। अतएव घटनाओंको भेजनेवाले महानुभावोंको अपनी रचना भेजनेके पूर्व उसे इस कसौटीपर स्वयं परख लेना चाहिये, अन्यथा उसका उपयोग 'कल्याण' में नहीं हो पायेगा और उनका श्रम एवं डाकखर्च व्यर्थ चला जायगा। हमारे पास अप्रकाशित बहुत-सी घटनाएँ रखी हैं। इसीसे विवश होकर यह निवेदन किया जा रहा है।

'कल्याण'के प्रकाशनमें जो महानुभाव किसी भी रूपमें अपना कृपापूर्ण सहयोग प्रदान कर रहे हैं, हम उनके हृदयसे कृतज्ञ हैं। 'कल्याण' सभीकी अपनी वस्तु है। अतएव सभीको इसके प्रति आत्मीयता रखनी ही चाहिये।

—चिम्मनलाल गोस्वामी,

सम्पादक

रजि० सं० एल्० १७५

बाल-श्रीकृष्णका स्तवन

नव-नीरद-नीलाभ कृष्ण तन परम मनोहर।
त्रिभुवनमोहन रूपराशि रमणीय सुभग वर॥
कस्तूरी-केसर-चन्दन-द्रव-चर्चित अनुपम।
अङ्ग सकल सच्चिन्मय, सुषमामय, सुन्दरतम॥
कीर-चञ्चु-निन्दक निरुपम नासा मणि राजत।
कुञ्चित केश-कलाप कृष्ण लख अलि-कुल लाजत॥
सिर चूड़ा, शिखिपिच्छ, मुकुट मणिमय अत्युज्ज्वल।
कर्ण-युगल शुचि कर्णिकार-कुण्डल अति झलमल॥
कुटिल भ्रुकुटि, दृग-युगल विशद विकसित अम्बुजसम।
रुचिर भङ्गिमा, ललित त्रिभङ्गी, मध्य सुबंकिम॥
पीत बसन तडिताभ, दशन द्युतिमय अरुणाधर।
मुख प्रसन्न, मुसकान मधुर, मुरलिका मधुर कर॥
भक्त-भक्त नित सेवक-भक्तानुग्रह-कातर।
प्रेम-रसिक रस-प्रेम-सुधा-आस्वादन-तत्पर॥
व्रज-प्रिय व्रज-जन-सखा-स्वामि-सेवक तन-मन-धन।
नन्द-यशोदा-तनय बाल-व्रजरमणी-जीवन॥
भगवत्ता, सत्ता, ईश्वरता सारी तजकर।
व्रज-जन-सुख-हित हेतु द्विभुज निज-इच्छा-वपुधर॥
भाद्र-अष्टमी, कृष्ण पक्ष, बुधवार अनुत्तम।
शुभ रोहिणि नक्षत्र, मध्य-रजनी मङ्गलतम॥
हुए प्रकट श्रीनन्द-यशोदाके प्रिय सुत बन।
निज-स्वरूप-वितरण हित बनकर सबके निजजन॥

'श्रीभाईजी'